

# य

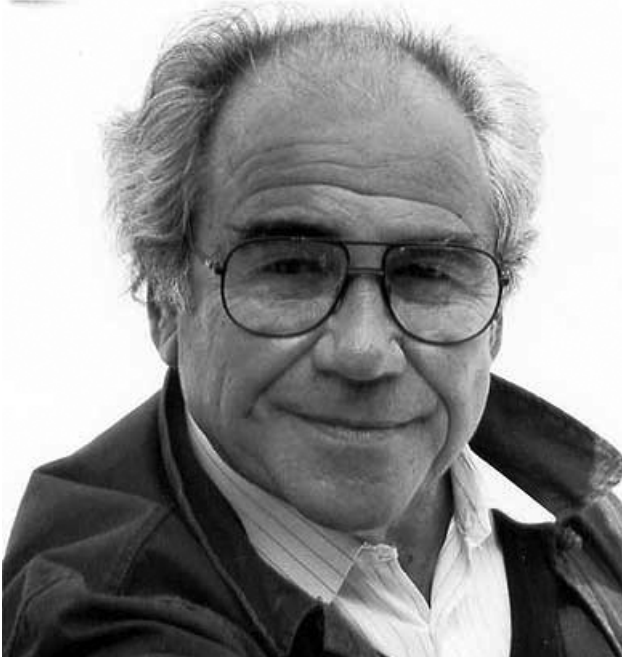
## यथार्थवाद

(Realism)

यथार्थवाद के अनुसार वस्तुएँ मनुष्य द्वारा किये जा सकने वाले अपने हर सम्भव वर्णन से स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं; अर्थात् यथार्थवादी वह है जिसकी मान्यता के अनुसार यह जगत हमारे विचारों के बाहर स्थित है। हम इस बाहरी हकीकत की कसौटी पर कस कर अपने विचारों और चिंतन में निहित सच्चाई को नाप सकते हैं। इमैनुएल कांट के विमर्श में यथार्थवाद को दो श्रेणियों में बाँट कर समझने की चेष्टा की गयी है: आनुभविक और अनुभवातीत। आनुभविक यथार्थवादी मानते हैं कि भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व और प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना दिक् और काल के दायरे में सम्भव है। अनुभवातीत यथार्थवादी कहते हैं कि यह ज्ञान असल में वस्तुओं की प्रकृति और अस्तित्व संबंधी हमारे बोध पर निर्भर है। कांट का तर्क था कि दोनों तरह के यथार्थवाद का मिलन नामुमकिन है, पर बाद में दार्शनिकों ने पाया कि बोध आधारित ज्ञान और ज्ञान आधारित बोध का संगम हो सकता है। एक अवधारणा के रूप में यथार्थवाद की सबसे बड़ी चुनौती यह है कि क्या दुनिया को उसी रूप में देखा जाना चाहिए जिस रूप में वह है, या फिर उसे जैसी वह बनती जा रही है के संदर्भ में समझा जाना बेहतर होगा। यथार्थवादी जब वास्तविकता की स्थावर समझ के फेर में फँस जाते हैं तो यथार्थ का विकृत बोध पैदा होता है। दूसरी ओर यथार्थवाद विरोधी अपने आदर्शों का बाह्य जगत के साथ सार्थक तादात्म्य बैठाने में नाकाम रहते हैं। इसीलिए राजनीतिक सिद्धांत में यह भी माना जाता है कि यथार्थवाद और यूटोपियनिज्म को आपस में गूँथने से ही रूपांतरित होती

हुई दुनिया को देखने की वह निगाह मिलती है जिसके तहत तजवीज़ किये जाने वाले विकल्पों की जड़ें हकीकत की ज़मीन में होती हैं।

ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों में यथार्थवाद के अलग-अलग संस्करण प्रचलित हैं। मसलन, विज्ञान के क्षेत्र में यथार्थवाद आग्रह करता है कि वस्तुएँ अपनी वैज्ञानिक जाँच के दायरे के बाहर मौजूद रहती हैं। विज्ञान उन वस्तुओं को समझने के लिए सैद्धांतिक मॉडल बनाता चला जाता है। राजनीतिक सिद्धांत में यथार्थवाद का इस्तेमाल कभी-कभी भौकितवाद की जगह भी होता है। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में यथार्थवाद का मतलब है सम्प्रभु राज्यों के बीच संबंधों का अध्ययन। इस मान्यता के अनुसार सम्प्रभु राज्यों के भीतर तो राजनीति नैतिक प्रगति, संविधान सम्मत शासन और समाज रचना की प्रक्रिया पर आधारित हो सकती है, पर उनकी सीमाओं के बाहर यानी उन राज्यों के बीच होने वाली राजनीति तक्ररीबन मत्स्य-न्याय के आधार पर ही चलती है। यानी हर राज्य को अपने बचे रहने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। इस लिहाज़ से यथार्थवाद अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की एक संगीन तस्वीर पेश करता है। ऐसे यथार्थवादी मानवीय प्रकृति को मूलतः त्रुटिपूर्ण मानते हैं। इसीलिए उन्हें अनुदार और निराशावादी भी कहा जाता है। यथार्थवादी चिंतन का प्रस्थान-बिंदु स्वतंत्रता के बजाय आवश्यकता की धारणा के इर्द-गिर्द रहता है। वे शक्ति-संतुलन की राजनीति के तहत लगातार संकटों और अंदेशों से घिरे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को परिकल्पित करते हैं। उनके चिंतन में सम्प्रभु राज्यों के बीच सम्भव सार्वदेशिक न्याय की कोई जगह नहीं होती। उनके लिहाज़ से अंतर्राष्ट्रीय संबंध प्रभुत्व के लिए होड़ और संघर्ष के लिए अभिशप्त हैं। इतिहास में सतत शांति जैसा कुछ नहीं होता।



ज्यौं बाँदिया (1929-2007)

सौंदर्यशास्त्र के दायरे में यथार्थवाद की चर्चा उन्नीसवीं सदी के कथा साहित्य और चित्रकला के संदर्भ में होती है। इसका संबंध निरूपित वस्तु और कलाकृति के बीच कुछ न कुछ सादृश्य पैदा कर देने वाली कलात्मक निरूपण की शैलियों से है। वस्तु और उसके निरूपण की यह समानता और उसका प्रभाव शैली के मुताबिक बदलता है। मसलन, एक चित्र या उपन्यास किसी घटनाक्रम का वर्णन इस तरह से करने में सफल हो सकता है कि उसका प्रभाव लोगों पर पड़े उस घटना के असर जैसा ही हो। दूसरी तरफ यथार्थवादी की निगाह में एक अभिव्यंजनावादी चित्र हकीकत की बिगड़ी हुई तस्वीर ही पेश कर सकता है। मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के पैरोकारों ने यथार्थवाद को आधुनिकतावाद के मुकाबले रख कर बहस चलायी है कि दोनों में ज्यादा प्रगतिशील कौन है। ग्योर्ग लुकास ऐसी कला की वकालत करते हैं जिसमें घटनाक्रम के चित्रण के जरिये सतह के नीचे काम कर रही सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक शक्तियों की सम्पूर्ण तस्वीर उभर कर आ सके। सम्पूर्ण सामाजिक यथार्थ के चित्रण का दावा करने वाला यह आकर्षक सिद्धांत व्यवहार में मध्यवर्गीय चरित्रों और परिस्थितियों के जरिये जीवन के औसत अनुभव का निरूपण ही साबित हुआ है। उन्नीसवीं सदी के कलाकार पहले तो समाज के कच्चे यथार्थ को मनमाने तरीके से छाँट-बीन कर पेश करते थे, और फिर पाठकों से उनकी उम्मीद होती थी कि वे उनके गढ़े गये चरित्रों में खुद को देखें।

दूसरी तरफ मार्क्सवाद से ही निकले फ्रैंकफर्ट स्कूल के सिद्धांतकारों ने यथार्थवाद के समर्थकों को इस तर्क के

आधार पर आड़े हाथों लिया है कि वे उन तौर-तरीकों, आचरणों और रिवाजों पर गौर नहीं करते जिनकी वजह से कलाकृति का उत्पादन प्रभावित होता है। इसी कारण से यथार्थवाद समाज का विचारधारात्मक विवरण पेश करके रह जाता है। गैर-मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्रियों ने यथार्थवादी और गैर-यथार्थवादी कृतियों के बीच किये जाने वाले भेद पर ही आपत्ति की है। उनका कहना है कि यथार्थवाद का आग्रह दरअसल निरूपण के स्थापित तौर-तरीकों से संचालित होने के कारण असल में काफ़ी कृत्रिम है।

बीसवीं सदी में ज्यौं बाँदिया ने फोटोग्राफी, फ़िल्म और मीडिया के दूसरे रूपों द्वारा यथार्थ को अपने तरीके से पेश करने की प्रक्रिया का अध्ययन किया है। सिनेमाई यथार्थवाद के अध्येता फ़िल्म के कैमरे को यथार्थ के दृश्यात्मक बयान के लिए एक स्वाभाविक औज़ार की संज्ञा देते हुए दावा करते हैं कि लिखे हुए शब्द के मुकाबले यह कैमरा एक दोहरा यथार्थवाद पेश करता है। एक परत कथांकन की रहती है और दूसरी दृश्यात्मकता की। इस प्रक्रिया में कथांकन की संरचनाओं के तहत भौतिक यथार्थ और मनोगत यथार्थ का संगम हो कर एक मानीखेज वक्तव्य बनता है। सामाजिक मुद्दों पर रोशनी डालने के लिए इस सिनेमाई यथार्थवाद का ख़ूब इस्तेमाल किया गया। पर जल्दी ही लगने लगा कि कथांकन का जहाँ उपसंहार करते समय फ़िल्मकार को समस्याओं का आसान सा समाधान तजवीज़ करना पड़ता है जिससे समाज के तनावों और द्वंद्वों की तलखी कुछ नरम पड़ जाती है और ऐसा सिनेमा दर्शक को गहन सोच-विचार करने के लिए मजबूर नहीं कर पाता। इस उलझन ने फ़िल्मकारों और विमर्शकारों को सिनेमाई यथार्थवाद की जटिल प्रकृति पर सोचने के लिए विवश किया। परिणामस्वरूप यथार्थवाद के इर्द-गिर्द कई परिष्कृत सिद्धांतों और आचार-संहिताओं का विकास हुआ।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इंद्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-औपनिवेशिकता, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, जॉन लॉक, ज़ाक लॉक, ज्यौं-फ्रांस्वा ल्योतर, ज्यौं-पॉल सार्त्र, ज़ाक देरिदा, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, थियोडोर लुडविग वीज़ेनग्रंड एडोर्न, द्वैतवाद, परिणामवाद, फ्रांसिस बेकन, फ्रेड्रिख नीत्शे-1 और 2, बुद्धिवाद, भाववाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, युरोपीय पुनर्जागरण, युरगन हैबरमास, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, संत ऑगस्टीन, सोरेन आबी कीर्केगार्द, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, हरबर्ट स्पेंसर, ज्ञानमीमांसा, ज्ञान का समाजशास्त्र।

### संदर्भ

1. एच. पुतनैम (1983), *रियलिज़म एंड रीज़न*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, 1983

2. आर. बर्की (1971), *ऑन पॉलिटिकल रियलिज़म*, डेंट, लंदन, 1981
3. हेनरी आरवोन (1971), *मार्क्सिस्ट एस्थेटिक्स*, अनु. हेनन लेन, इथाका, न्यूयॉर्क.
4. ग्योर्गी लूकाच (1962), *द हिस्टोरिकल नॉवेल*, न्यूयॉर्क.
5. आंद्रे बाज़िन (1967), *व्हाट इज़ सिनेमा?*, खण्ड 1, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.
6. जे. डोनेली (2000), *रियलिज़म एंड इंटरनेशनल रिलेशंस*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

## यथार्थवाद

(संदर्भ : अंतर्राष्ट्रीय संबंध)

(Realism : International Relations)

प्रथम विश्व-युद्ध से ले कर तीस के दशक तक अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का अध्ययन मुख्यतः आदर्शवादी नज़रिये से होता था। लेकिन इसके बाद समाज-विज्ञान के इस अनुशासन में एक नये सैद्धांतिक दृष्टिकोण का बोलबाला होता चला गया जिसे रियलिज़म या यथार्थवाद की संज्ञा दी जाती है। यथार्थवादियों की मान्यता है कि औपचारिक रूप से सम्प्रभु राज्यों के भीतर तो राजनीति नैतिक प्रगति, संविधानसम्मत शासन और समाज रचना की प्रक्रिया पर आधारित हो सकती है, पर उनकी सीमाओं के बाहर यानी उन राज्यों के बीच होने वाली राजनीति तक्ररीबन मत्स्य-न्याय के आधार पर ही चलती है। यानी हर राज्य को अपने बचे रहने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। इस लिहाज़ से यथार्थवाद अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की एक संगीन तस्वीर पेश करता है। यथार्थवादी मानवीय प्रकृति को मूलतः त्रुटिपूर्ण मानते हैं। इसीलिए उन्हें अनुदारवादी और निराशावादी भी कहा जाता है। यथार्थवादी चिंतन का प्रस्थान-बिंदु स्वतंत्रता के बजाय आवश्यकता की धारणा के इर्द-गिर्द रहता है। वे शक्ति-संतुलन की राजनीति के तहत लगातार संकटों और अंदेशों से घिरे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को परिकल्पित करते हैं। उनके चिंतन में सम्प्रभु राज्यों के बीच सम्भव सार्वदेशिक न्याय की कोई जगह नहीं होती। उनकी निगाह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में अराजकता की स्थिति है जिसके तहत प्रभुत्व के लिए होड़ और सुरक्षा के लिए संघर्ष होते रहते हैं। वे इतिहास का हवाला देते हुए कहते हैं कि युद्ध और द्वंद ही अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की चालक शक्ति रहे हैं। उनके मुताबिक इतिहास में सतत शांति जैसी किसी कोई चीज़ नहीं मिलती।

आदर्शवाद के बोलबाले को ख़त्म करके यथार्थवादी

दृष्टिकोण की स्थापना में ब्रिटिश मार्क्सवादी ई.एच. कार और हैंस जे. मोरगेंथाउ की मुख्य भूमिका रही है। इन दोनों विद्वानों ने दोनों युद्धों के बीच की अवधि में अपनाये जाने वाले आदर्शवादियों के दावों का खण्डन करते हुए कहा कि विभिन्न देशों के हितों के बीच किसी तरह की स्वाभाविक समरसता की कल्पना करना भी उचित नहीं है। इसलिए यह उम्मीद भी नहीं करना चाहिए कि अंतर्राष्ट्रीय क़ानून, लोकतंत्रीकरण और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार जैसी प्रक्रियाओं से उनके बीच होने वाला शक्ति-संघर्ष मंद किया जा सकता है। इन दोनों को ही एक सैद्धांतिक अभिव्यक्ति के रूप में 'यथार्थवाद' का प्रयोग करने का पहला श्रेय जाता है। कार और मोरगेंथाउ ने लीग ऑफ़ नेशंस की नाकामी का उदाहरण देते हुए कहा कि आदर्शवादी नज़रिये की नाकामी का नतीजा ही है कि यह संस्था द्वितीय विश्व-युद्ध रोक पाने में नाकाम रही और इसीलिए हिटलर को युरोप-विजय से नहीं रोका जा सका।

कार ने 1946 में प्रकाशित अपनी रचना *द ट्वेंटी इयर्स क्राइसिस* में तर्क दिया कि आदर्शवाद अपने प्रभुत्व और सत्ता से संतुष्ट हो जाने वाली महाशक्तियों के राजनीतिक दर्शन की नुमाइंदगी करने वाला सिद्धांत है। उसके आधार में सार्वभौम लक्ष्यों से प्रेरित किसी तरह की चिंतन नैतिक संहिता देखने की कोशिश बेकार है। उसका जन्म तो एक ख़ास तरह के सामाजिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक हालात में हुआ था। कार ने यह भी कहा कि आदर्शवादी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शक्ति और प्रभुत्व की भूमिका के प्रति बचकाना रवैया अख़्तियार करते रहे हैं। जो देश अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के शीर्ष पर हैं उनकी भाषा शांति की होती है, और जो अपना प्रभुत्व क़ायम करना चाहते हैं वे कुछ और चाहते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अनुशासन के तहत यथार्थवाद के पैरोकारों का कहना है कि अभी से नहीं बल्कि प्राचीन काल से ही यथार्थवाद विभिन्न देशों के आपसी संबंधों का आधार बना रहा है। वे पेलोपोनेसियन युद्ध के इतिहासकार थुसिडिडस का हवाला देते हुए बताते हैं कि ईसा से सवा चार सौ साल पहले एथेंस और स्पार्टा के बीच युद्ध का कारण था एथेंस की फ़ौजी ताक़त में होने वाली बढ़ोतरी जिसके कारण स्पार्टा को असुरक्षा की अनुभूति होने लगी थी। थुसिडिडस ने ऐसे ही उदाहरणों के आधार पर हकूमतों के व्यवहार को सिद्धांतबद्ध करने की कोशिश की। आदर्शवाद के पैरोकार अपने बौद्धिक पूर्वजों में निकोलो मैकियावेली, थॉमस हॉब्स और मैक्स वेबर को भी शामिल करते हैं। दरअसल, यथार्थवादी नज़रिये से मिलते-जुलते वक्तव्य और प्रेक्षण अतीत के बहुत से विद्वानों के साहित्य से मिल सकते हैं, पर उनमें से शायद ही कोई ख़ुद को यथार्थवादी के रूप में देखता हो। एक सिद्धांत के रूप में यथार्थवाद की उत्पत्ति तीस के

दशक के आखिरी वर्षों और चालीस के दशक के शुरुआती वर्षों में ही मानी जाती है।

इसमें कोई शक नहीं कि यथार्थवादी नज़रिया 1945 के बाद से विश्व में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन पर छाया रहा है, पर उसके आलोचकों की भी कमी नहीं है। यहाँ तक कि उसकी बुनियादी मान्यताओं के प्रति हमदर्दी रखने वालों ने भी उसे आड़े हाथों लिया है। वे मोरगेंथाउ से ख़ास तौर पर नाराज़ है जिन्होंने 'पॉवर' नामक पद का इतने तरह से और इतने अर्थों में प्रयोग किया है कि उसका मुख्य तात्पर्य समझने में ख़ासी दिक्कत आती है। साठ और सत्तर के दशक में कई विद्वानों ने तजवीज़ की कि सम्प्रभु देशों के बीच संस्थागत और आर्थिक परस्पर-निर्भरता की स्थितियों में यथार्थवाद को फिर से परिभाषित करने का वक्त आ गया है।

यथार्थवाद की इस धारणा को कठोर आलोचना का शिकार होना पड़ा है कि युद्धों का मुख्य कारण मनुष्य की अंतर्निहित बुराई है। आलोचक पूछते हैं कि अगर बात यही है तो फिर समय-समय पर शांति और सहयोग के दौर क्यों आते हैं? इसी तरह के प्रश्नों के आलोक में कुछ विद्वानों द्वारा *नियोरियलिज़म* का सूत्रीकरण करने का प्रयास भी किया गया है। इस नये सिद्धांत के प्रमुख प्रवक्ता हैं कैनेथ वालज़ जिनका कहना है कि यथार्थवाद को मनुष्य की प्रकृति में बुराई तलाश करके युद्धों का कारण खोजने की कोई ज़रूरत नहीं है। वे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में व्याप्त अराजकता की संरचनाओं को युद्धों के प्रमुख कारण के रूप में देखने के पक्षधर हैं। ऐसी बात नहीं कि नियोरियलिज़म की आलोचना न हुई हो। उसके पैरोकार जब अपने संरचनावादी दृष्टिकोण को विज्ञानसम्मत बताते हैं तो बदले में उन्हें व्यापक आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। मसलन, आलोचक कहते हैं कि नियोरियलिज़म अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बचाए रखने के नाम पर शीत-युद्ध के दौरान हुए ध्रुवीकरण का बचाव करता है और नैतिक प्रश्नों को दरकिनार करके अपना काम चलाता है।

आजकल यथार्थवाद के समर्थकों से एक सवाल यह भी पूछा जा रहा है कि भूमण्डलीकरण के दौर में उनके सिद्धांत की क्या प्रासंगिकता है? आज तो संप्रभु राज्यों के बीच होने वाले युद्धों की जगह राज्यों के भीतर होने वाले संघर्ष लेते जा रहे हैं। इन आलोचनाओं के बावजूद यह मानना होगा कि यथार्थवाद ने वक्त और परिस्थिति के साथ ख़ुद को बदलने और अपना पुनर्संस्कार करने का असाधारण माद्दा दिखाया है। उसके दिवंगत होने की भविष्यवाणी करने वाले कई बार निराश हो चुके हैं। उनकी प्रतीक्षा भूमण्डलीकरण के दौर में भी जारी है।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, पृथकतावाद, तृतीय

विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निःशस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट कानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, युद्ध, युरोपीय यूनियन, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, साम्राज्यवाद, शक्ति-संतुलन, शांति, शांतिवाद, शस्त्र-नियंत्रण, हथियारों की होड़।

### संदर्भ

1. जे. डोनेली (2000), *रियलिज़म ऐंड इंटरनैशनल रिलेशंस*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. ई.एच. कार (1946), *द ट्वेंटी इयर्स क्राइसिस 1919-1939*, दूसरा संस्करण, मैकमिलन, लंदन.
3. आर. क्रॉफर्ड (2000), *आइडियलिज़म ऐंड रियलिज़म इन इंटरनैशनल रिलेशंस*, रॉटलेज, लंदन.
4. एम. ग्रिफ़िथ (1995), *रियलिज़म, आइडियलिज़म ऐंड इंटरनैशनल पॉलिटिक्स*, रॉटलेज, लंदन.
5. कैनेथ वालज़ (1979), *थियरी ऑफ़ इंटरनैशनल पॉलिटिक्स*, एडिसन-वेज़ली, रीडिंग, एमए.

—अभय कुमार दुबे

## यशदेव शल्य

(Yashdeva Shalya)

श्री अरविंद के बाद इस देश में दार्शनिक गतिविधियों से सरोकार रखने वाली कई हस्तियों को 'भारत का दार्शनिक' तो कहा जा सकता है, लेकिन एक 'संस्थापक भारतीय दार्शनिक' की पदवी से केवल यशदेव शल्य (1928- ) ही अभिहित किये जा सकते हैं। भारत के वैचारिक स्वराज और भाषीय राजपथ पर अपना चिंतन अग्रसारित करते हुए उन्होंने जो स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं, वे स्वातंत्र्योत्तर भारत की महत्वपूर्ण दार्शनिक उपलब्धि हैं। यशदेव शल्य की प्रमुख स्थापना है चिदद्वैतवाद जिसे चेतनामूलक अद्वैतवाद भी कहा जा सकता है। उनके लिए 'दर्शन' तमाम ज्ञान-विधाओं की तरह कोई विषयमूलक-व्यवस्था नहीं, बल्कि ज्ञान का एक आत्मोन्मुख व्यापार है जो निरंतर अपने आरंभ बिंदु से प्रारम्भ कर उसी पर लौटता है। यशदेव शल्य द्वारा प्रस्तुत 'मनुष्य के जगद्भाव' की तत्त्वमीमांसा से मानवीय सर्जना के सभी पक्षों की व्याख्या एक आश्चर्यजनक मौलिकता के साथ सम्भव हो सकी है। यदि उनकी तुलना किसी पाश्चात्य दार्शनिक से की जाए तो उनका दार्शनिक अध्यवसाय हसर और हाइडैगर के समकक्ष ठहरता



यशदेव शल्य (1928- )

है। यह बात अलग है कि भारत का दार्शनिक जगत उनके दार्शनिक अध्ययन से परिचित नहीं हो सका है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि भीष्म संकल्प के साथ उन्होंने लिखा तो बहुत, लेकिन सब कुछ हिंदी में ही लिखा है।

यशदेव शल्य के जीवन-वृत्त पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि दार्शनिक अध्ययन और लेखन उनके लिए कभी विद्वत्ता लाभ और पांडित्य प्रदर्शन का साधन न हो कर आत्मसर्जन का कर्म रहा है। उन्हीं की एक स्थापना के अनुसार मनुष्य के कर्म मात्र का औचित्य भी यही है कि वह आत्मचेतनपूर्वक किये गये अपने समस्त कर्मों द्वारा अपना आत्मक्रियान्वयन ही करता है। अन्यथा मनुष्य अर्थलोक की सृष्टि और अवगाहन कर ही नहीं सकता। ऐसे यशदेव शल्य का जन्म 26 जून, 1928 को फ़रीदकोट (पंजाब) में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा फ़रीदकोट के ही एक प्राइमरी स्कूल से प्राप्त करने के बाद वे रायकोट (लुधियाना) स्थित एक गुरुकुल में सातवीं कक्षा तक पढ़े। वहीं रह कर उन्होंने संस्कृत कॉलेज, जयपुर की 'साहित्योपाध्याय' और पंजाब विश्वविद्यालय की 'प्रभाकर' परीक्षाएँ किसी तरह से उत्तीर्ण कीं। इसके बाद घर पर ही रह कर उन्होंने अंग्रेज़ी की दसवीं और बारहवीं की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर संस्थागत पठन-पाठन की इतिश्री कर दी और स्वतंत्र अध्ययन में लग गये। सबसे पहले वे साहित्य की आलोचनात्मक विधा तथा कविता-लेखन की ओर उन्मुख हुए। 1951 में उनकी पहली रचना *पंत का काव्य और युग प्रकाशित* हुई। साहित्य के क्षेत्र में उनकी दूसरी पुस्तक *काव्य विमर्श* है। एक साहित्यकार में दर्शन का बीज कैसे अंकुरित हुआ, यह कहना तो कठिन है लेकिन 1952 में *प्रतीक* पत्रिका के एक अंक में उन्होंने 'व्यष्टि और समष्टि' शीर्षक से एक लेख लिखा। 1954 में उन्होंने अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना की और साथ ही *दार्शनिक* त्रैमासिक पत्रिका का

प्रकाशन किया। इस प्रकार 1954 से ही उनका जीवन भारत में दार्शनिक उन्नयन और अपने दार्शनिक चिंतन को आकार देने में समर्पित हो गया। अनवरत चिंतन-मनन करते हुए उन्होंने लगभग डेढ़ दर्जन पुस्तकों का प्रणयन किया है जिसमें उनके विचार-वितान और भाषा की संरचना नितांत मौलिक है। उनकी रचनाओं को सर्वत्र सम्मान भी मिला। अपने समय के मूर्धन्य विद्वानों ने उन पर समीक्षाएँ लिखीं तथा शंकर पुरस्कार, मूर्तिदेवी पुरस्कार जैसे राष्ट्रीय स्तर के पुरस्कारों से उन्हें सम्मानित भी किया गया। वे *दार्शनिक त्रैमासिक*, *दर्शन समीक्षा*, *तत्त्वचिंतन* और *उन्मीलन* जैसी पत्रिकाओं के संस्थापक सम्पादक भी रहे। विश्वविद्यालयीय व्यवस्था से विमुक्त रहने के बावजूद भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् एवं भारतीय समाज-विज्ञान अनुसंधान परिषद् ने उन्हें अपना वरिष्ठ फ़ैलो बना कर अपने को सम्मानित किया है।

पचास साल से जारी यशदेव शल्य के अविचल चिंतन ने अपने आप में एक सम्पूर्ण तंत्र का रूप ले लिया है। यद्यपि उनका चिंतन सर्वथा मौलिक है तथापि एक प्रकार से वे अद्वैत वेदांत की परम्परा में आते हैं। यह दूसरी बात है कि यह परम्परा उनके चिंतन में आधारभूत रूप से नवीनीकृत हुई है। यशदेव शल्य ने स्वयं ही अपने दार्शनिक प्रस्थान को चिदद्वैतवाद की संज्ञा दी है। सत्ता की चिदद्वैतवादी अनुसंधान परम्परा में यशदेव शल्य की दार्शनिक यात्रा का आरम्भ आधुनिक पाश्चात्य अनुभववादी-तार्किक प्रत्यक्षवादी परम्परा के तहत चिंतन के साथ हुआ। इसी सिलसिले में उन्होंने *दार्शनिक विश्लेषण* (1961) नामक पुस्तक भी लिखी। किंतु उन्हें अनुभववादियों की अनुभव की अवधारणा में कोई युक्तियुक्तता नहीं दिखाई दी। उन्हें सबसे बड़ा दोष यह लगा कि यह परम्परा विषय को मात्र संवेदन प्रदत्त की तरह स्वीकार करती है। इससे एक ओर तो समानांतर विषय की परिकल्पना करने से अनावश्यक विषयों को मानना पड़ता है तो दूसरी ओर उन्हें एक सूत्र में बाँधने की समस्या खड़ी होती है ताकि योजनाबद्ध क्रिया की व्याख्या की जा सके। इस प्रकार अनुभववाद अपने विकसित प्रारूप में भी संवेदन-प्रदत्त और वस्तु के बीच की खाँची नहीं पाट पाता है। अतः यशदेव शल्य एक प्रकार से 'सावधान अनुभववाद' को ध्यान में रखते हुए अवधारणात्मक सापेक्षतावाद (वस्तु का स्वरूप अवधारणामूलक मानना) की ओर उन्मुख हुए। इसका प्रतिपादन उन्होंने *ज्ञान और सत्* (1967) नामक पुस्तक में किया। लेकिन यह दृष्टि भी उनके लिए अधिक समय तक संतोषप्रद नहीं बनी रह सकी। उन्होंने स्वीकार किया है कि बाह्य विषय के संबंध में अवधारणात्मक-सापेक्षता की बात फिर भी किसी तरह चल सकती है किंतु कर्तव्य, आत्मा आदि विषयों के संदर्भ में नहीं। अपनी इस दृष्टि का पल्लवन उन्होंने *संस्कृति : मानव कर्तृत्व की व्याख्या* (1969) नामक पुस्तक में किया है। इस तरह यशदेव शल्य अपने ही अवधारणा-

सापेक्षतावाद से उत्तीर्ण होकर अपने चिंतन के दूसरे महत्वपूर्ण सोपान पर पहुँचे जिसे चैत-सापेक्षतावाद (वस्तु को चित्त-सापेक्ष देखना) से निरपेक्ष चैतन्य उत्क्रमण के रूप में समझा जा सकता है। इन दोनों ही विचार-ध्रुवों के मध्य दोलायमान उनके चिंतन को *विषय एवं आत्म* (1972) नामक पुस्तक में देखा जा सकता है। इस पुस्तक में उन्होंने एक ओर बाह्य विषय को सापेक्षता से मुक्त कर उसे उसका वस्तुगत आधार लौटाने का प्रयास किया तो दूसरी ओर आत्मा को सापेक्ष विषयिता से मुक्त कर आत्मसत्ता में प्रतिष्ठित करने का एक विलक्षण प्रत्ययवादी प्रयत्न किया।

अपने दार्शनिक अध्यवसाय में लगभग डेढ़ दशक तक इस सोपान पर स्थित यशदेव शल्य को बाद में यह भान हुआ कि वे अपने प्रयत्न में पूर्णतः सफल नहीं हो सके हैं। उन्होंने स्वीकार किया कि मैं विषय की बाह्यता के चिद्गत स्रोतों एवं आत्मा की ऐसी तात्त्विकता की खोज में था जो वस्तुरूप न होकर भाव्यात्मक हो। उन्होंने स्वयं कहा है : 'अब 'विषय और आत्म' में जबकि मैं विषय के चिद्गत स्रोतों को देख पाया, स्वयं चेतना अथवा आत्मा के उस स्वरूप को नहीं देख पाया जिससे ये स्रोत उद्गत होते हैं।' इस प्रकार चेतना अथवा आत्मा के उस स्वरूप का संधान, जिससे अनंत विषयों के स्रोत उद्गत होते हैं, यशदेव शल्य के दार्शनिक चिंतन का तृतीय और अंतिम प्रस्थान है। उनकी इस दृष्टि का विकास *चिद्विमर्श* (1978) नामक ग्रंथ में हुआ है। अपने इस चिंतन में उन्होंने आत्मचेतन चेतना के ज्ञानात्मक, संकल्पात्मक और भावात्मक तीनों ही अभिवृत्तियों एवं मानव पर्येषणा के समस्त पक्षों (समाज, संस्कृति, सौंदर्य, कला, साहित्य, भाषा और इतिहास दर्शन) तथा मनुष्य के समस्त मूल्यात्मक अभिनिवेशों की मौलिक व्याख्या की है। यही यशदेव शल्य के दर्शन का चरम प्रस्थान है जिसका बहुआयामी पल्लवन उनके परवर्ती ग्रंथों, *सत्ताविषयक अन्वीक्षा* (1987), *समाज : दार्शनिक परिशीलन* (1992), *मूल्यतत्त्वमीमांसा* (1994), *तत्त्वचिंतन* (2003) और *चित् की आत्मगवेषणा* (2009) में हुआ है।

इस तरह देखा जाए तो यशदेव शल्य के दार्शनिक चिंतन की विकासात्मक यात्रा में सोपान क्रम से चित्तसत्तावाद का ही बहुविध प्रतिपादन हुआ है। इनके चित्तसत्तावाद में पारम्परिक दृष्टि से बुद्धिवाद और इस विमर्श के आत्मस्रोतावेषण के वाचक अध्यात्मवाद का यौगपद्य देखा जाना अधिक उपयुक्त है। यही कारण है कि यशदेव शल्य के दर्शन में तार्किक अनुभववाद और तर्कीय प्रत्यक्षवाद के तत्त्वमीमांसक प्रत्याख्यानवादी अभियान को एक जबरदस्त भारतीय प्रत्युत्तर प्राप्त हुआ है। यह उनके दर्शन की बेहद अहम दार्शनिक पुनर्रचना है जिसे उनके चिंतन में 1970 के बाद प्रकट रूप से देखा जा सकता है। किसी को लग सकता है कि यशदेव शल्य की दर्शन-साधना का प्रारम्भ तत्त्वदर्शन-

विरोधी बौद्धिक परम्परा के दायरे में हुआ, परंतु वास्तविकता यह है कि उनके चिंतन का प्रौढ़ पक्ष तत्त्वमीमांसा के औचित्य प्रतिपादन में ही चरितार्थ हुआ है।

यशदेव शल्य के अनुसार युरोप में जन्मे ज्ञान की अधिकांश विधाओं का अगुआ, यहाँ तक कि उनका सांस्कृतिक नेता, विज्ञान ही रहा है। विज्ञान के लिए जगत की यथातथ्य प्रदत्तता ही उसका अंतिम सत्य है। इस दृष्टि से सत् उनका जगत्पर्यंत ही है लेकिन ध्यान रहे कि मनुष्य की कल्पना जगत्पर्यवसायी नहीं है। अतः सत् को जगत्पर्यंत मानने वाली दार्शनिक प्रवृत्ति क्या इस प्रश्न पर कभी विचार कर सकती है कि जब मानवीय कल्पना जगत्पर्यवसायी नहीं है तो उसका सत् किस प्रकार केवल जगत्पर्यंत हो सकता है? ऐसा पूर्वाग्रह न तो सम्पूर्ण मानवीय पर्येषणाओं के साथ न्याय कर सकता है और न ही इस मर्म की समुचित व्याख्या कर सकता है कि मानवीय कल्पना क्यों जगत्पर्यवसायिता का अतिक्रमण करती है। वस्तुतः इसी अतिक्रमणशीलता में मनुष्य की विशिष्टता और सत्ता का रहस्य छिपा हुआ है। मनुष्य के क्रिया-कलापों में प्राप्त स्थिति से उबरने और उससे आगे अपने को प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति इसी बात का संकेत करती है कि उसका कोई गंतव्य है जिसके सापेक्ष वह अपने को न्यून पाता है। यदि इस बात को स्वीकार किया जाए तो तत्त्वमीमांसा के गहरे पानी में गोता लगाना ही होगा और सत्ता की अन्वीक्षा उस रूप में करनी होगी ताकि मानवीय पर्येषणा की उत्तरोत्तरगामिता की समुचित व्याख्या की जा सके।

यशदेव शल्य के अनुसार मनुष्य, पशु और भौतिक वस्तुओं को अस्तित्व के इतिहास में क्रमशः जगद्भावापन्न चैतन्य, चित् और अचित् कहा जा सकता है। इसमें भौतिक अस्तित्व भीतर-बाहर उभयतः बंद है; पाशव और अस्तित्व भीतर से बंद और बाहर से इतरोन्मुख रहता है। यह केवल भारतीय अस्तित्व ही है जो भीतर और बाहर दोनों ओर खुला रहता है। इस प्रकार खुले होने से उसमें पर्याप्तता की स्मृति या आभास भी अंतर्निहित होता है जिससे वह वियुक्त है। मानवीय चेतना में एक मूलगामी आत्म-अतिक्रामिता में, उसके आत्म संशोधनात्मक सभी प्रयत्नों में यह सब कुछ भली-भाँति देखा जा सकता है। शल्य के अनुसार आहंकारिक चैतन्य की आत्म-अपर्याप्तता दूसरे अस्तित्वों से इस अर्थ में गम्भीर एवं तीव्र है कि इसका प्रत्यय आत्म-बाह्य नहीं हो कर आत्मप्रकाशित होता है। अर्थात् यह केवल अन्य-व्यावृत्त नहीं हो कर आत्म-व्यावृत्त या आत्मनिर्वासित भी होता है। यह अपने भीतर अपने अभाव से, अपने वैपरीत्य से, अनात्म से दर्शित है। यह परिस्थिति इसे एक-दूसरा ही आयाम प्रदान करती है। अर्थात् इसे अपने से अतिक्रामी सत्त्व दे देती है। यही वह अतिक्रमण है जो प्लेटो द्वारा श्रेयस् को ज्ञान और सत् से ऊपर अतिसत् के रूप में रखने में अभिप्रेत है और जो

‘तत्त्वमसि श्वेतकेतो!’ में श्वेतकेतु का सत्त्व श्वेतकेतु से ऊपर ब्रह्म में स्थापित करने को सार्थकता देता है। इसलिए मानवीय चैतन्य की विशिष्टता उसकी आत्मप्रकाशित आत्म-अपर्याप्तता का बोध है जो स्वयं व्यक्ति में अपने भाव से ऊपर उठने के अतिक्रान्त संकल्प के रूप में दृष्टिगत होता है। मानो अस्तित्व के इतिहास में मानव इसी संकल्प के साथ अपनी आँखें खोलता है।

एक अतिक्रामी संकल्प के साथ मनुष्य द्वारा अपनी आँखें खोलने का तात्पर्य यह है कि चेतना मनुष्य के माध्यम से पहली बार आत्मचेतन होती है और सत् के अन्वेषण में प्रवृत्त होती है। मनुष्य की यह खोज अपने होने के अर्थ, उसके आधार और गंतव्य की जिज्ञासा के रूप में होती है। इस सृष्टि में मनुष्य के अतिरिक्त किसी अन्य सत्त्व में यह जिज्ञासा प्रकट नहीं होती— मानो मनुष्य के माध्यम से सत्ता स्वयं ही प्रश्न उठाती है कि सत्ता क्या है? शल्य के अनुसार इसका उत्स जगद्भाव में चेतना का अपने आप को आत्म-अभावापन्न, आत्म-अपर्याप्त अथवा आत्मनिर्वासित पाना है। तत्त्वमीमांसीय गति और प्रवृत्ति इसी मूल अभाव और अपर्याप्तता के स्रोत की खोज है। इस स्रोत की खोज में जगद्भावापन्न चैतन्य (मनुष्य) अपार अर्थ राशि का सृजन, अवगाहन और उसका अतिक्रमण करते हुए अपने मूल स्वरूप की ओर द्वितीयावर्तन करता है। यह द्वितीयावर्तन वास्तव में सत्कार्यात्मक नहीं बल्कि असत्कार्यात्मक अर्थ में आत्मोन्मुख निवर्तन (बहिर्मुखी चेतना का अंदर की ओर उन्मुख होना) है, जो चेतना की प्रत्यङ्मुखता (चेतना की अंतरोन्मुखता), जो मानवीय स्थिति की विलक्षण विशिष्टता है, एक मौलिक रूप से नव्य परिच्छेद है।

इस नव्य परिच्छेद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता ‘अतिक्रमणशीलता’, अर्थात् अपने प्राप्त रूप का निषेध और आदर्श-पर्येष्य रूप का आक्षेप है। इसी के चलते मनुष्य सदैव अपने आदर्श से परिभाषित अस्तित्व रखता है। शल्य के अनुसार ‘मैं हूँ’ यह अस्तित्व की ही आद्य और अधिष्ठानभूत घोषणा नहीं है बल्कि अधिक मौलिक रूप से यह अपनी भाव्यता की भी घोषणा है। यहाँ से ही सृजन की, आरोहण की, अनात्म से मुक्ति की, आत्मव्यवधान के निवारण की और अपने मूल स्वरूप की सिद्धि की यात्रा आरम्भ होती है। वस्तुतः शल्य के चिंतन में प्रत्यङ्मुख चेतना की जैसी गम्भीर और गहन विवेचना हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका सम्पूर्ण दर्शन प्रत्यङ्मुख चेतना के भाष्य, वार्तिक और अलंकार रूप विवेचना में ही फलित और प्रमाणित होता है। चैतन्य की मानुषी स्थिति में पराङ्मुख (चेतना का इंद्रियों के माध्यम से बहिर्मुखी होना) और प्रत्यङ्मुख (चेतना की अंतरोन्मुखता) नामक दो विपरीत दिशाओं में गति देखी जाती है। विषयोन्मुख इंद्रिय-वृत्ति में

चेतना का अपने विषयों में निश्शेष हो जाना, उसको समर्पित हो जाना, यह पराङ्मुखता की पराकाष्ठा है। इसके विपरीत प्रत्यङ्मुखता आत्मोन्मुख अतिक्रमण के रूप में एक पूर्णतः मूलगामी घटना है। शल्य की सत्ताविषयक अन्वीक्षा में यह मूलगामी आत्मोन्मुख अतिक्रमण विषय से उसकी मूलाग्र अवधारणाओं में, अवधारणाओं से उनकी मूलाग्र चिद्वृत्तियों में और इन चिद्वृत्तियों से निरूपाधिक चैतन्य में अपनी पर्यन्तता को अधिगत करता है।

जगद्भावापन्न चैतन्यरूप मनुष्य के आत्मोन्मुख अतिक्रमण के मर्म को हृदयंगमित किये बिना ‘तत्त्वमीमांसा क्या है’ को बाहरी तौर पर तो किसी तरीके से विश्लेषित किया जा सकता है, लेकिन ‘तत्त्वमीमांसा क्यों है’ को अभ्यांतरिक रूप से उद्घाटित नहीं किया जा सकता। आचार्य यशदेव शल्य की सत्ताविषयक अन्वीक्षा में तत्त्वमीमांसा का जो प्रस्ताव है वह अपने आप में ‘तत्त्वमीमांसा क्यों’ का भी समुचित उत्तर प्रदान करता है। वस्तुतः ‘तत्त्वमीमांसा क्यों’ के मर्म को उद्घाटित करने के प्रयास में ही यशदेव शल्य का चिदद्वैतवाद सृजनशीलता का दर्शन और दर्शन की सृजनात्मकता दोनों को अपने में समाविष्ट करता है।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, रामअवतार शर्मा, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्धनाथ परम्परा।

## संदर्भ

1. छाया राय और के.एल. शर्मा (सम्पा.) (2002), *यशदेव शल्य का दर्शन*, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, नयी दिल्ली.
2. अम्बिकादत्त शर्मा (सम्पा.) (2006), *दार्शनिक प्रकरण : भारतीय दर्शन के 50 वर्ष*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर.
3. यशदेव शल्य (1978), *चिद्विमर्श*, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर.
4. यशदेव शल्य (1987), *सत्ताविषयक अन्वीक्षा*, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, नयी दिल्ली.
5. अम्बिका दत्त शर्मा और संजय कुमार शुक्ला (सम्पा.) (2008), *इन डिफेंस ऑफ़ मेटाफ़िज़िक्स : ऐन इण्डियन एनकाउंटर विद लॉजिकल पॉज़िटिविज़म*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर.

— अम्बिका दत्त शर्मा

## युद्ध

(War)

एक पृथक् अवधारणा के रूप में युद्ध को आधुनिक युग में पैदा हुई प्रवृत्ति माना जाता है। इससे पहले भी युद्ध होते थे और खूब होते थे, पर सत्रहवीं सदी से पहले युद्ध और शांति की अवधियों के बीच स्पष्ट विभाजन करना मुश्किल था। उस ज़माने में अंतर्राष्ट्रीय सीमाएँ भी बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्तित होती रहती थीं। आधुनिक युग में दो या दो से अधिक देशों की सेनाओं का अंतर्राष्ट्रीय सीमाओं पर संघर्ष युद्ध कहलाता है। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अनुशासन के अनुसार ऐसी किसी लड़ाई को बाकायदा युद्ध मानने के लिए ज़रूरी है कि उसमें कम से कम एक हज़ार लोग मारे जाएँ। किसी देश के भीतर विभिन्न राजनीतिक ताकतों के बीच होने वाले हथियारबंद संघर्ष को गृहयुद्ध की संज्ञा दी जाती है। मरने वालों की संख्या के लिहाज़ से भी ऐसी कई हिंसाओं को युद्ध की श्रेणी में रखा जा सकता है। महाद्वीपों के आर-पार फैली हुई और कई-कई वर्षों तक विभिन्न देशों के गठजोड़ों के बीच होने वाली लड़ाइयों को विश्व-चौरयुद्ध की संज्ञा दी गयी है। ऐसे विश्वयुद्ध आज तक केवल दो ही हुए हैं : 1914 से 1918 के बीच हुआ प्रथम विश्व-युद्ध और 1939 से 1945 के बीच होने वाला द्वितीय विश्व-युद्ध।

शीत-युद्ध की राजनीति ने कई बार तीसरे विश्वयुद्ध के अंदेश पैदा किये थे जिसके आणुविक चरित्र के कारण अत्यंत विनाशकारी होने का डर था। लेकिन, शीतयुद्ध ख़त्म हो जाने के बाद अब समझा जा रहा है कि अब दुनिया तीसरे विश्व-युद्ध से बच जाएगी। इस समझ का दावा है कि युद्ध होते रहेंगे, पर उनका चरित्र अधिकतर स्थानीय और राष्ट्रों के भीतर होने वाले हथियारबंद संघर्षों का रह जाएगा। इसका पहला कारण तो यह बताया जाता है कि दुनिया एक ध्रुवीय हो गयी है। अमेरिकी अकेली महाशक्ति है जिसके पास सबसे ज़्यादा फ़ौजी ताकत है, पर वह आर्थिक रूप से पहले की तरह शक्तिशाली देश नहीं रह गया है। दूसरा कारण यह है कि विकसित और शक्तिशाली देशों की परस्पर निर्भरता बहुत अधिक बढ़ जाने के कारण उनके बीच किसी तरह के युद्ध की सम्भावना देखना मुश्किल है। शीतयुद्ध के बाद के हालात में भले ही चीन, युरोपीय देशों और अमेरिका के बीच भले ही बहुत अच्छे संबंध न रहें, लेकिन राष्ट्रीय हितों की ख़ातिर उनके बीच पारम्परिक हथियारों से या आणुविक हथियारों से हो सकने वाला युद्ध अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के प्रेक्षकों को कल्पनातीत ही लगता है।

आगे जा कर युद्धों की बारंबारता कम हो जाएगी, इसके पक्ष में एक तर्क यह भी दिया जाता है कि अतीत की तरह अब युद्ध की प्रक्रिया राज्य-निर्माण की पर्याय नहीं रह गयी है; अर्थात् राज्य की संस्था और युद्ध के बीच का संबंध बदल गया है। युरोप में होने वाले युद्ध एक ज़माने में 'राज्य-रचना' की परियोजना के अंग हुआ करते थे। युद्धों के कारण राज्यों में आंतरिक एकता पैदा होती थी और युरोपीय उपनिवेशवाद अपने विस्तार की तरफ़ क्रमदम बढ़ाता था। आज तीसरी दुनिया के संदर्भ में युद्ध के ऐसे ही फलितार्थों का पूर्व-आकलन कर पाना मुश्किल है।

ऐसे कई सिद्धांत हैं जिनके ज़रिये देशों के बीच युद्ध और शांति के कारणों की व्याख्या करने की कोशिश की गयी है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में सत्ता और गठजोड़ की संरचनाओं में जब परिवर्तन होते हैं तो उनका परिणाम युद्ध में निकलता है। कुछ अन्य विद्वानों का मानना है कि युद्धों का जन्म राज्य की संस्था के भीतरी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पहलुओं से होता है। तीसरे क्रिस्म के विद्वान उदार लोकतांत्रिक देशों को शांतिकामी मानते हैं और अधिनायकवादी शासन प्रणाली अपनाते वाले देशों को युद्धप्रिय करार देते हैं। मार्क्सवादी विद्वानों का कहना है कि पूँजीवादी राज्य अपनी सीमाओं के बाहर अपने बाजारों का विस्तार करने के लिए, निवेश के अवसरों को बढ़ाने के लिए और सस्ता कच्चा माल पाने के लिए युद्धों की स्थितियाँ पैदा करते हैं। कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं जिनसे लगता है कि कुछ राष्ट्रों के नेताओं ने भीतरी शांति कायम करने के लिए आक्रामक विदेश नीति अपनायी और युद्ध करने की हद तक चले गये। युद्धों की नौबत ग़लतफ़हमी और संकटग्रस्त स्थितियों में हुई निर्णय संबंधी भूलों के कारण भी आती है।

ज़ाहिर है कि युद्धों के कारणों को स्पष्ट करने वाला कोई एक सिद्धांत उपलब्ध नहीं है। ज़्यादा से ज़्यादा केवल कैनेथ वालज़ का एक कथन याद आता है। युद्धों की वजहों पर किये गये अपने मशहूर सर्वेक्षण में वाल्टज़ ने नतीजा निकाला था कि अगर दुनिया में कोई विश्व-सरकार होती तो युद्धों को टाला जा सकता था। बहरहाल, तीन अलग-अलग आयामों का अध्ययन करके किसी युद्ध की वजह खोजने की कोशिश की जाती है। सबसे पहले तो उन स्थितियों की शिनाख़्त की जाती है जिनके बिना पर युद्ध को टाला जा सकता था। दूसरे, एक लम्बी अवधि के दौरान युद्ध और शांति के पैटर्न का अध्ययन किया जाता है। तीसरे, अलग-अलग युद्धों को विश्लेषण के विभिन्न धरातलों पर समझने की कोशिश की जाती है।

युद्धों को मुख्यतः तीन श्रेणियों में बाँट कर देखा जाता है। हुकूमतों द्वारा जानबूझ कर किये जाने वाले युद्ध ताकि



उनके जरिये कोई इच्छित राष्ट्रीय उद्देश्य हल किया जा सके। उन्नीसवीं सदी ऐसे ही 'रेशनल' युद्धों का युग मानी जाती है जिसमें कई बार युद्ध छेड़ने के पहले से तय परिणाम निकले। 1816 तक 1911 के बीच हुए हर पाँच में से चार युद्धों में उन्हीं ताकतों को जीत भी हासिल हुई जिन्होंने उनकी शुरुआत की थी। इसी रुझान से 'पहले मारे सो मीर' जैसी कहावतें निकलती हैं। दूसरे क्रिस्म के युद्ध तब होते हैं जब सरकारों के आकलन पूरी तरह ग़लत साबित होते हैं और घटनाक्रमों के बारे में उनके पूर्वानुमान सही नहीं निकलते। ऐसे युद्धों के परिणाम के बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। बीसवीं सदी के हर पाँच में से केवल दो युद्ध ही लड़ाई शुरू करने वाले देशों के द्वारा जीते गये। यानी 1911 के बाद युद्ध शुरू करने वाले देशों की पराजय की सम्भावना बढ़ती दिखती है। इससे एक नतीजा यह भी निकाला जा सकता है कि हुकूमतें अब पहले की तरह समझदार नहीं रह गयी हैं, उन पर घरेलू राजनीति का दबाव इतना बढ़ गया है कि युद्ध के जरिये उससे बच निकलाने का दुस्साहस करने लगी हैं और अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली इतनी पेचीदा हो गयी है कि उसके विकास-क्रम का पूर्वानुमान लगाना आसान नहीं रह गया है। तीसरी श्रेणी में वे युद्ध आते हैं जिन्हें शांति के भय के कारण शुरू किया गया। कुछ सरकारों को लगता है कि अगर उन्होंने युद्ध प्रारंभ नहीं किया तो कई साल तक उन्हें असहनीय शांति झेलनी पड़ेगी। समझा जाता है कि 1941 में अमेरिकी बंदरगाह पर्ल हारबर पर बमबारी करने का फ़ैसला जापानी सरकार ने इसी मानसिकता के तहत लिया था।

अमेरिकी सामरिक नियोजकों का विचार यह भी है कि फ़ौजी मामलों में हुए क्रांतिकारी विकास (रेवोल्यूशन इन मिलिट्री एफ़ेयर्स यानी आरएमए) के कारण इक्कीसवीं सदी ख़त्म होते-होते उनके देश द्वारा किये जाने वाले सभी युद्ध ज़्यादा से ज़्यादा स्वचालित और सैनिकविहीन होते चले जाएँगे। यानी, मोर्चों पर होने वाली लड़ाई कम से कम होती चली जाएगी, चालकविहीन बमबार और लड़ाकू विमानों का इस्तेमाल होने लगेगा और मिसाइलें पानी में आधी डूबी रहने वाली पनडुब्बियों या पोतों से दागी जाएँगी। दूर बैठे हुए कमांडर युद्ध की यह कार्रवाई वीडियो पर देखेंगे और वहीं से निर्देश जारी होते रहेंगे। वे अपनी स्क्रीन पर दिखने वाले लक्ष्यों को बटन दबा कर नष्ट करने की क्षमता से सम्पन्न भी होंगे। आरएमए थीसिस के मुताबिक़ आज से अस्सी-नब्बे साल बाद होने वाले युद्ध गोलियों के साथ-साथ सूचनाओं के युद्ध भी होंगे। पेंटागन (अमेरिकी युद्ध मंत्रालय) ने इस तरह के सूचना युद्ध का नियोजन शुरू भी कर दिया है। इसके तहत पहली गोली दागे जाने से पहले ही कम्प्यूटर द्वारा शत्रु की कम्प्यूटर प्रणाली की तोड़-फ़ोड़ और वित्तीय व संचार प्रणाली की तबाही हो जाएगी।

आरएमए के राजनीतिक फलितार्थ बहसतलब हैं। एक पक्ष का कहना है कि इसके जरिये नागरिक और फ़ौजी लक्ष्यों में सटीक भेद किया जा सकेगा। इसी आधार पर नाटो की फ़ौजों ने कोसोवो में दावा किया था कि उन्होंने तो केवल फ़ौजियों और सैनिक मुकामों पर ही हमला किया है। दूसरे पक्ष का कहना है कि अमेरिकी सैनिकों की जान दाँव पर लगाये बिना युद्ध की क्षमता विकसित कर लेने के बाद तो अमेरिका अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की समस्याएँ उत्तरोत्तर जोर-जबरदस्ती हल करने की कोशिश करने लगेगा।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, पृथकतावाद, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निःशस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट कानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युरोपीय यूनियन, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, साम्राज्यवाद, शक्ति-संतुलन, शांति, शांतिवाद, शस्त्र-नियंत्रण, हथियारों की होड़।

### संदर्भ

1. के. होल्स्ती (1991), *पीस ऐंड वार : आर्डर्ड कांफ़्लिक्ट ऐंड इंटरनैशनल ऑर्डर, 1648-1989*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. के. होल्स्ती (1996), *द स्टेट, वार, ऐंड द स्टेट ऑफ़ वार*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. जे. म्युलर (1996), *रिट्रीट फ़ॉर ड्रमसडे : द ऑब्सोलेंस ऑफ़ मेजर वार*, युनिवर्सिटी ऑफ़ रोशेस्टर प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. एम. वैन क्रेवेल्ड (1991), *द ट्रांसफ़ॉर्मेशन ऑफ़ वार*, साइमन ऐंड शुस्टर, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

## युरगन हैबरमास

(Jurgen Habermas)

अपनी पीढ़ी के सर्वाधिक चर्चित जर्मन समाजशास्त्री और दार्शनिक युरगन हैबरमास (1929-) को उपयोगितामूलक विवेकवाद (इंस्ट्रुमेंटल रैशनलिटी), जीवन-संसार (लाइफ-वर्ल्ड) और पब्लिक स्फ़ेयर (लोक-वृत्त) जैसे सूत्रीकरणों के लिए जाना जाता है। हैबरमास ऐसे विचारक हैं जिन्होंने युरोपीय ज्ञानोदय से जन्मी और विकसित हुई आधुनिकता की अवधारणा को सही मानते हुए उसके पक्ष में बहस की। ज्ञानोदय से उद्भूत मूल्यों में समाज और जनता की राजनीतिक मुक्ति एवं नागरिक अधिकारों की रक्षा की जगह काफ़ी अहम थी। हैबरमास ने इन्हीं मूल्यों की बुनियाद पर अपनी विचारोत्तेजक संकल्पनाओं को विकसित किया। अपनी उर्वर बौद्धिकता के बल पर हैबरमास ने प्रभावशाली सैद्धांतिक संरचनाएँ निर्मित कीं जिनमें भाषा-सिद्धांत तथा बोधात्मक-विकासमूलक मनोविज्ञान की व्याख्या, नीतिशास्त्र, राज्य, क़ानून एवं इतिहास का मार्क्सवादी मूल्यांकन और युरोप तथा जर्मनी की समकालीन घटनाओं पर विचारोत्तेजक टिप्पणियाँ शामिल हैं।

हैबरमास के लेखन की तरफ सबसे पहले ध्यान उनके द्वारा विकसित मुक्तिमूलक समाज-विज्ञान (इसे क्रिटिकल थियरी भी कहा जाता है) के कारण गया। यह थियरी श्रम की धारणा, भाषिक सम्प्रेषण एवं शक्ति को मानवीय क्रिया और ज्ञान के तीन स्रोतों के रूप में देखने पर आधारित है। इसमें श्रम का संबंध प्रकृति, विज्ञान व तकनीक से, भाषा का अध्ययन व्याख्याशास्त्र से और राजनीतिक शक्ति के साथ का शोषण एवं उत्पीड़न से मानवता के उद्धार से संबंध है। यह थियरी मुख्यतः मार्क्सवाद तथा मनोविश्लेषण को अपना आदर्श बनाती है। मनोविश्लेषण अपनी मूल स्थापनाओं में मरीज़ के स्वायत्त आचरण-व्यवहार को नष्ट-भ्रष्ट करने वाले कारणों को संबोधित करके स्नायु-रोग का समाधान करता है। मनोविश्लेषण पुराने मूल सांघातिक अनुभव से जोड़ते हुए न्युरोसिस के अर्थ को समझने की चेष्टा करता है। वह मरीज़ की स्मृति में इस अर्थ की पुनर्स्थापना करने और इसके ज़रिये मरीज़ की इच्छाशक्ति के अधीन उसके कामों को लाने का काम करता है। मुक्तिमूलक समाज-विज्ञान भी यही तरीक़ा अपनाते हुए सामाजिक संरचना में मौजूद उन ताकतों का विवेचन करता है जो समाज के क्रियाशील लोगों पर बाध्यताएँ थोपती हैं। इस विश्लेषण के ज़रिये यह समाज-विज्ञान समाज पर लोगों के नियंत्रण को स्थापित करता है।

सत्तर और अस्सी के दशक में हैबरमास ने

सम्प्रेषणात्मक क्रिया का सिद्धांत विकसित किया जो उनकी महत्वपूर्ण पुस्तक *द थियरी ऑफ़ कम्युनिकेटिव एक्शन* (1981) में विस्तार से मौजूद है और उनकी दूसरी समस्त अवधारणाओं का आधार है। इसके अनुसार सभी मानव मूलतः संप्रेषणशील अस्तित्व होते हैं। वे परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करना चाहते हैं। हैबरमास सम्प्रेषण की इसी संरचना का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि अभिव्यक्ति (बयान देने, प्रश्न करने या आरोप लगाने आदि के रूप में) के दौरान कोई भी वक्ता अपने श्रोता के बरक्स अपनी वैधता के ऊपर चार प्रकार के दावों का सामना करता है। उसे लगता है कि उसकी अभिव्यक्ति की सार्थकता, अभिव्यक्ति की सत्यता, अभिव्यक्ति के प्राधिकार और अभिव्यक्ति की गम्भीरता पर प्रश्न किया जा रहा है या किया जा सकता है। इसी आधार पर हैबरमास ने आदर्श अभिव्यक्ति अवस्था की अवधारणा प्रतिपादित की जिसमें संवाद तथा बातचीत के सभी सहभागी किसी अन्य वक्ता की बात को चुनौती देने तथा उस पर प्रश्न करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र होते हैं।

लेकिन हैबरमास स्वयं भी मानते हैं कि हक़ीक़त में इस तरह का कोई आदर्श संवाद कभी घटित नहीं होता। दरअसल, संवाद में भागीदारी करने वाले लोग भिन्न-भिन्न शक्ति-समूहों के सदस्य होते हैं और इसी कारण संवाद को व्यवस्थित तरीक़े से विकृत भी करते हैं। हैबरमास के इस सैद्धांतिक मॉडल से ही विमर्श की नैतिकता के विचार का विकास हुआ। इसका उद्देश्य यह स्थापित करना भी है कि भाषा संबंधी प्रयोग के मामले में चेतना व ज्ञान के एक विशेष स्तर पर पहुँच चुके सभी लोग बहस में भाग लेने के लिए स्वतंत्र होते हैं। स्वतंत्र भागीदारी से किसी भी कारणवश किसी को रोकना अन्याय का प्रतीक है।

हैबरमास के सम्प्रेषण सिद्धांत से ही लोगों में उनके द्वारा प्रतिपादित पब्लिक स्फ़ेयर या लोक-वृत्त के बारे में दिलचस्पी जाग्रत हुई। लोकतंत्र की विकास-प्रक्रिया को समझने का प्रयास करने वाला यह सिद्धांत उन्होंने अपनी पुस्तक *द स्ट्रक्चरल ट्रांसफ़ॉर्मेशन ऑफ़ द पब्लिक स्फ़ेयर* में व्याख्यायित किया है। लोक-वृत्त सामाजिक जीवन का वह मुक्त क्षेत्र होता है जहाँ विभिन्न मुद्दों पर जनता की राय बनती और बदलती है। ऐतिहासिक रूप से यह अट्टारहवीं सदी के बूर्जवा समाज की उपज है जिसमें पत्रिकाओं और मुक्त प्रेस का भी योगदान है। लोक-वृत्त एक जन-इच्छा की रचना का प्रयास करता है जिससे राज्य की गतिविधियों पर अंकुश लगने की सम्भावना पैदा होती है। यह ऐसा क्षेत्र है जहाँ लोगों के एकत्र होने से कई तरह की बहसों, विचार और प्रतिक्रियाएँ जन्म लेती हैं। इसमें समस्त प्रकार के विवाद स्वतंत्र एवं मुक्त से सम्भव होते हैं। हैबरमास ने लिखा है कि लोक-वृत्त को किसी संस्था अथवा संगठन की तरह नहीं देखा जा सकता



युरगन हैबरमास (1929-)

बल्कि वह सूचनाओं एवं विचारों के आदान-प्रदान के नेटवर्क की भाँति होता है।

हैबरमास फ़्रासीवाद के त्रासद अनुभवों से गुजरे थे और फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के प्रमुख हस्ताक्षर एडोर्नो के शोध-सहायक के रूप में काम करने के दौरान उनसे प्रभावित भी हुए थे। इसीलिए हैबरमास को यह उम्मीद कम थी कि वे ऐसे राजनीतिक दर्शन का विकास कर सकेंगे जो पूँजीवाद या राज्य की निरंकुशता को एकदम समाप्त कर सके। इसीलिए उन्होंने लोक-वृत्त की अवधारणा सामने रखी जो समस्याओं का निदान सुझाने वाला राजनीतिक सिद्धांत न हो कर परिस्थितियों पर विचार करने वाली ऐसी अवधारणा है जिसके माध्यम से एक स्वस्थ तथा न्यायपूर्ण राजनीतिक जीवन सम्भव होता है। हैबरमास के मुताबिक लोक-वृत्त को व्यावसायिक हितों या राज्य के नियंत्रण से बचाना चाहिए। जब तक वह इस तरह के नियंत्रण से मुक्त रहेगा तभी तक वह लोकतांत्रिक परिस्थितियाँ भी पैदा कर सकता है।

मीडिया से जुड़े सिद्धांतकारों ने हैबरमास की इस अवधारणा का प्रयोग लोकतंत्र में सम्प्रेषण को स्थापित करने के लिए किया। इसमें यह मान्यता भी निहित रही है कि मीडिया के माध्यम से आम नागरिक सूचनाएँ प्राप्त करते हैं और यह उन्हें देश-समाज के जीवन में सक्रियता से हिस्सेदारी करने में सक्षम बनाता है। नारीवादी विचारकों ने लोक-वृत्त की अवधारणा की आलोचना करते हुए इसके मूल रूप में निहित अलगावमूलक और अभिजनवादी प्रवृत्तियों को

रेखांकित किया। दरअसल, हैबरमास की अवधारणा मुख्यतः बहस तथा ज्ञान-विनिमय पर आधारित है। वह लोक-वृत्त के चरित्र अथवा उसकी सफलता के निर्धारण में भागीदारों के वर्ग या सामाजिक स्थिति पर विचार नहीं करती। इसलिए नारीवादी आलोचना कहती है कि स्त्रियों से ऐतिहासिक भेदभाव, या नस्ली अथवा सम्पत्तिगत अंतर के कारण लोक-वृत्त संबंधी धारणा को निरपेक्ष रखना सम्भव नहीं है। उल्टे विभिन्न समूहों में जो भेद हैं उनकी उपेक्षा करने से लोक-वृत्त का दायरा तंग और संकीर्ण हो जाने का खतरा रहेगा। इसका समाधान यह है कि हम किसी इकलौते लोक-वृत्त पर ध्यान न दें वरन लोक-वृत्तों की बहुलता को देखें यानी ऐसे एकाधिक क्षेत्रों की बात करें। इससे यह आरोप ग़लत सिद्ध किया जा सकेगा कि लोक-वृत्त में भागीदारी का आनंद केवल वर्चस्वशाली समूहों के सदस्य ही प्राप्त कर सकते हैं।

हैबरमास ने सम्प्रेषणात्मक विवेकवाद को आधुनिक समाजों की बुनियाद बताते हुए इसके ऊपर मँडराते खतरों की चर्चा भी की है। इन खतरों के विश्लेषण के अंतर्गत हैबरमास ने जीवन-संसार या लाइफ-वर्ल्ड और व्यवस्था या सिस्टम को सामाजिक अस्तित्व के दो पूरक अंगों के रूप में विश्लेषित किया। इसमें से लाइफ-वर्ल्ड की धारणा उन्होंने हसर और शुल्ज के घटनाक्रियाशास्त्र से ग्रहण की। लाइफ-वर्ल्ड सामुदायिक ज्ञान एवं विरासत में मिले सामाजिक गुणों से निर्मित होता है। यह परस्पर मेलजोल तथा स्वीकृति के जरिये विश्व को अर्थपूर्ण मानने से निर्मित तथा संचालित होता है। इसमें समुदाय की परम्परा का महत्त्व है और परम्पराएँ निजी स्तर पर समाजीकरण का स्रोत हैं।

इसके विपरीत सामाजिक व्यवस्था उपयोगितामूलक विवेकवाद से संचालित होती है और उसके नियम निश्चित उद्देश्यों को हासिल करने की ज़रूरत को ध्यान में रख कर बनते हैं। हैबरमास के अनुसार सबसे प्रभावशाली सामाजिक व्यवस्था वह होती है जिसके जरिये समाज में शक्ति तथा सम्पत्ति का वितरण होता है। इस व्यवस्था का कामकाज जीवन-संसार से उद्भूत समाज के सदस्यों के निजी सामाजिक कौशल पर टिका होता है। यानी लाइफ-वर्ल्ड और सिस्टम के बीच संबंध परस्पर लाभप्रद होते हैं। पर सच यह भी है कि सिस्टम आगे चल कर लाइफ-वर्ल्ड का औपनिवेशीकरण भी कर सकता है। औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया में व्यवस्था के नियम सम्प्रेषणात्मक तार्किकता को कमजोर करते हैं ताकि समाज के लोग उनके लिए तय की जाने वाली गतिविधियों की सच्चाई को न समझ सकें और न उसके बारे में प्रश्न कर सकें। हैबरमास ने इसे मनोविश्लेषण की पद्धति से समझाने की चेष्टा की और बताया कि लाइफ-वर्ल्ड के औपनिवेशीकरण से व्यक्ति अपने कामों की सार्थकता को पूरी तरह से ग्रहण नहीं कर पाता और इससे

स्नायुविक असंतुलन पैदा होने का अंदेशा बन जाता है। हैबरमास का सम्प्रेषणात्मक गतिविधि का सिद्धांत उनके पहले के मुक्तिकामी समाज-विज्ञान के सिद्धांत की ही परम्परा में सामने आता है।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इन्द्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-औपनिवेशिकता, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, जॉन लॉक, जाक लकाँ, ज्यॉ-फ्रांस्वा ल्योतर, ज्यॉ-पॉल सार्त्र, जाक देरिदा, तत्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, थियोडोर लुडविग वीजेनग्रंड एडोर्नो, द्वैतवाद, परिणामवाद, फ्रांसिस बेकन, फ्रेड्रिख नीत्से-1 और 2, बुद्धिवाद, भाववाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यथार्थवाद, युरोपीय पुनर्जागरण, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, संत ऑग्व्स्तीन, सोरेन आबी कीर्केगार्द, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, हरबर्ट स्पेंसर, ज्ञानमीमांसा, ज्ञान का समाजशास्त्र।

### संदर्भ

1. रेमण्ड गेस (1981), *द आइडिया ऑफ क्रिटिकल थियरी*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. जे.जी. फिनलेसन (2004), *हैबरमास : अ वेरी शॉर्ट इंट्रोडक्शन*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफर्ड.
3. जेन ब्रेटेन (1991), *हैबरमासेज क्रिटिकल थियरी ऑफ सोसाइटी*, स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ न्यूयॉर्क प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. एरिक आडवर एरिकसन और जार्ले विगर्ड (2004), *अंडरस्टैंडिंग हैबरमास, कम्युनिकेटिव एक्शन एंड डेलिबरेटिव डेमोक्रेसी*, कॉन्टिनुइंग इंटरनेशनल पब्लिशिंग, न्यूयॉर्क.

— वैभव सिंह

## युरोकेंद्रीयता

(Eurocentrism)

एक विचार के रूप में युरोकेंद्रीयता की प्रवृत्तियों का स्रोत रिनेसाँ काल में देखा जा सकता है। रिनेसाँ में प्राचीन यूनान और रोम की कला और दर्शन को ही ज्ञान के मुख्य स्रोत के रूप में मान्यता दी गयी थी। इसके बाद की अवधियों में युरोप की श्रेष्ठता का यह विचार तरह-तरह से सूत्रबद्ध किया जाता रहा। धीरे-धीरे उपनिवेशवादी आग्रहों के तहत युरोप और युरोपीय सांस्कृतिक पूर्वधारणाओं को स्वाभाविक, नैसर्गिक और सार्वभौम मान कर उन्हीं के आधार पर बाक़ी दुनिया की व्याख्या और विश्लेषण करने के रवैये के रूप में 'युरोप-सेंट्रिक' दृष्टिकोण उभरा। बीसवीं सदी में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के आलोचक

युरोकेंद्रीयता को एक विचारधारा के रूप में देखने लगे। सत्तर के दशक से पहले ऑक्सफ़र्ड डिक्शनरी में यह शब्द नहीं मिलता था। पर अस्सी के दशक में समीर अमीन के मार्क्सवादी लेखन ने इसे बौद्धिक जगत में अक्सर इस्तेमाल की जाने वाली अवधारणा में बदल दिया। विडम्बना यह है कि मार्क्सवादी विद्वानों द्वारा गढ़ा गया यह पद मार्क्स के लेखन की आलोचना करने के लिए भी इस्तेमाल किया जाता है। मार्क्स को युरोसेंट्रिक करार देने वालों की कमी नहीं है। हालाँकि मार्क्स के लेखन में युरोपीय श्रेष्ठता का सहजात आग्रह तलाश करना मुश्किल है, पर आलोचकों का कहना है कि विश्व-इतिहास की उनकी समझ युरोपीय अनुभव के आधार पर ही बनी थी और वे मानवता के भविष्य को समग्र रूप से युरोपीय मॉडल के आईने में ही देखते थे।

1851 से ही दुनिया के नक्शों के लॉगीट्यूड मेरीडियन के केंद्र में ग्रीनविच, लंदन को रखा जाना युरोकेंद्रीयता का ही एक तथ्य है जिसे बिना किसी सांस्कृतिक आपत्ति के सारी दुनिया ने हजम कर लिया है। उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययन के तहत युरोकेंद्रीयता का एक उल्लेखनीय उदाहरण मरकेटर एटलस को माना जाता है। इस एटलस में युरोप का समशीतोष्ण इलाका दूसरे क्षेत्रों के मुकाबले कहीं बड़े आकार का दिखाया गया है। इस एटलस में विश्व का मानचित्र विभिन्न महाद्वीपों को प्रदर्शित करने वाली वस्तुनिष्ठ रेखाओं से ही चित्रित नहीं है। मानचित्र में स्पेस विचारधारात्मक रूप से मूर्त किया गया है और इसमें नक्शे के साथ दिये गये पाठ और अन्य चित्रों की मदद भी ली गयी है। परिणामस्वरूप यह नक्शा युरोप को विश्व के स्थानिक और सांस्कृतिक तात्पर्यों के केंद्र में स्थापित कर देता है।

एडवर्ड सर्ईद की कृति ओरिएंटलिज़म में युरोकेंद्रीयता की कड़ी जाँच-पड़ताल की गयी है। सर्ईद का कहना है कि यह विचार न केवल अन्य संस्कृतियों को प्रभावित करके उन्हें अपने जैसा बनाने की तरफ़ धकेलता है, बल्कि उन्हें अपने अनुभव के दायरे में एक खास मुक़ाम पर रखने के ज़रिये उन पर पश्चिम का प्रभुत्व थोप देता है। सर्ईद के मुताबिक़ ज्ञानोदय के बाद से ही युरोपीय संस्कृति ने एक प्रणालीबद्ध अनुशासन विकसित कर लिया है जिसके औज़ारों से वह पूर्व की दुनिया को प्रबंधित करते हुए गढ़ती है।

युरोकेंद्रीयता साहित्य-अध्ययन, इतिहास-लेखन और मानवशास्त्र के अनुशासन के माध्यम से भी पुष्ट हुई है। साहित्य के क्षेत्र में इसके पैरोकारों ने बड़ी चालाकी से अपनी धारणाओं को साहित्य के सार्वभौम की तरह स्थापित करने की परियोजना चलाई। इतिहास में विजेताओं के दृष्टिकोण से लेखन किया गया। मानवशास्त्र की दुनिया में युरोकेंद्रीयता ने स्वजातिवादी आग्रह के रूप में घुसपैठ की और ग़ैर-युरोपीय संस्कृतियों को युरोपीय सभ्यतामूलक मानकों के बरक्स

‘आदिम’ करार दिया। कुछ संस्कृति-समीक्षकों की तो मान्यता है कि अगर युरोकेंद्रीय विचार पहले से स्थापित न होता तो मानवशास्त्र के शुरुआती रूपों का उपनिवेशवाद के साथ इतना घनिष्ठ रिश्ता स्थापित ही न हो पाता। ईसाइयत के प्रचार-प्रसार के लिए मिशनरियों द्वारा चलायी जाने वाली शैक्षणिक गतिविधियों में भी युरोकेंद्रीयता की पुष्टि करने का रुझान रहता है। इन्हीं सब कारणों से गैर-युरोपीय समाजों ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में युरोकेंद्रीयता को इतना ज़ब्र कर लिया है कि पश्चिम से आने वाली हर चीज़ या कृति को श्रेष्ठ मानने का विचार विज्ञान, उद्योग, गणित, कला, मनोरंजन और संस्कृति जैसे सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर लगभग स्थाई रूप से हावी हो चुका है। यहाँ तक कि युरोकेंद्रीयता के प्रति सतर्क रहने वाले लोग भी अंततः उसके साथ तालमेल बैठते हुए पाये जाते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो युरोपीय श्रेष्ठता का विचार पंद्रहवीं सदी में युरोपीय साम्राज्यवाद के साथ-साथ सुदृढ़ हुआ। वैज्ञानिक क्रांति, वाणिज्यिक क्रांति और औपनिवेशिक साम्राज्यों के विस्तार ने आधुनिक युग के उदय के रूप में स्वयं को अभिव्यक्ति किया। इसे ‘युरोपीयन चमत्कार’ का दौर माना जाता है जिससे पहले युरोप आर्थिक और प्रौद्योगिक दृष्टि से तुर्की की ऑटोमन ख़िलाफ़त, भारत के मुग़ल साम्राज्य और चीन के मिंग साम्राज्य के मुक़ाबले नहीं ठहर सकता था। अट्टारहवीं और उन्नीसवीं सदी की औद्योगिक क्रांति और युरोपीय उपनिवेशीकरण की दूसरी लहर के साथ ही यह अवधारणा अपने चरम पर पहुँच गयी। युरोपीय ताक़तें दुनिया में व्यापार और राजनीति पर छा गयीं। प्रगतिवाद और उद्योगवाद के आधार पर तेज़ी से विकसित हुई युरोपीय सभ्यता को विश्व का सार्वभौम केंद्र मानने वालों ने आखेट, खेती और पशुपालन पर आधारित समाजों के प्रति तिरस्कारपूर्ण विमर्श रचे। अट्टारहवीं सदी में ही युरोपीय लेखकों को युरोप और दुनिया के दूसरे महाद्वीपों की तुलना में यह कहते हुए पाया जा सकता था कि युरोप भौगोलिक क्षेत्रफल में दूसरों से छोटा ज़रूर है, पर विभिन्न कारणों से उसकी स्थिति ख़ास तरह की है। इसके बाद यह ख़ास स्थिति युरोपीय रीति-रिवाजों, शिष्टता, विज्ञान और कला में उसकी महारत का तर्क दे कर परिभाषित की जाती थी।

युरोकेंद्रीयता के बारे में एक सवाल यह भी उठाया जाता है कि क्या यह प्रवृत्ति दुनिया के अन्य भागों में पाये जाने वाले स्वजातिवाद की ही एक क्रिस्म नहीं है? चीनियों और जापानियों में भी सांस्कृतिक श्रेष्ठता का दम्भ है। ‘अमेरिकन सदी’ की दावेदारियाँ भी स्वजातिवाद का ही एक नमूना है। लेकिन युरोकेंद्रीयता को जैसे ही उपनिवेशवाद के परिप्रेक्ष्य में रख कर देखा जाता है, वैसे ही यह विचार सामान्य स्वजातिवाद से अलग एक विशिष्ट संरचना की तरह

दिखाई देने लगता है। युरोकेंद्रीयता की साख में क्षय की शुरुआत भी उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलनों के जोर पकड़ने और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद चली वि-उपनिवेशीकरण की युगप्रवर्तक प्रक्रिया से हुई। आजादी के आंदोलनों द्वारा किये स्थानीय परम्पराओं और मूल्यों के राष्ट्रवादी दावों ने पश्चिमी सांस्कृतिक अहम् को चुनौती दी। भारत और अमेरिकी महाद्वीप के मध्य व दक्षिणी हिस्सों में इसी मज़सद से नये इतिहास का सृजन हुआ और नयी सांस्कृतिक अस्मिताएँ गढ़ी गयीं। युरोकेंद्रीयता के बरक्स विश्व-सभ्यता की बहुकेंद्रीय तस्वीरों में रंग भरे गये। रवींद्र नाथ ठाकुर जैसी पूर्वी हस्तियों के विचारों की विश्वव्यापी प्रतिष्ठा और गाँधी प्रदत्त पश्चिम की सभ्यतामूलक आलोचना ने भी युरोकेंद्रीयता को मंच से धकेलने में उल्लेखनीय भूमिका निभायी।

देखें : उत्तर-औपनिवेशिकता, एडवर्ड विलियम सईद, एंतोनियो ग्राम्शी, क्लाड लेवी-स्ट्रॉस, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्राधिकार, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, रणजीत गुहा, वर्चस्व, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद।

### संदर्भ

1. दीपेश चक्रवर्ती (2000), *प्रोविंशियलाइज़िंग युरोप : पोस्टकोलोनियल थॉट ऐंड हिस्टोरिकल डिफरेंस*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.
2. वासिलिस लैम्ब्रोपोलस (1993), *द राइज़ ऑफ़ युरोसेंट्रिज़म : एनाटॉमी ऑफ़ इंटरप्रिटेशन*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.
3. एला शोहात और रॉबर्ट स्टैम (1994), *अनथिंकिंग युरोसेंट्रिज़म : मल्टीकल्चरलिज़म ऐंड द मीडिया*, रॉटलेज़, लंदन.
4. जे.एम. ब्लॉट (1993), *द कोलोनाइज़र्स मॉडल ऑफ़ द वर्ल्ड : जियोग्राफीकल डिफ्यूज़ंस ऐंड युरोसेंट्रिक हिस्ट्री*, गिलफ़र्ड प्रेस, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

## योग दर्शन

(Philosophy of Yoga)

‘योग’ संस्कृत को दो धातुओं से बना शब्द है। पहली धातु है ‘युजिर्योगे’। इसका अर्थ है जोड़ना। आयुर्वेद तथा जैन धर्म में इसका यही अर्थ किया गया है। दूसरी धातु ‘युज्-समाधौ’ है। समाधि का अर्थ पंतजलि ने ‘चित्त-वृत्तियों का निरोध’ किया है। जहाँ तक साधना का प्रश्न है, इन दोनों अर्थों में विशेष भेद नहीं है। मन को परमात्मा या ईश्वर के चिंतन में लगाना अथवा ब्राह्म विषयों से हटाना ही योग है। इन्हीं को पंतजलि ने क्रमशः सम्प्रज्ञात समाधि तथा असम्प्रज्ञात समाधि की संज्ञा दी है। योग दर्शन का मुख्य विषय साधना है। इस रूप में भारत ही नहीं, विश्व के सभी धार्मिक सम्प्रदायों ने इसे अपनाया है। जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि प्रत्येक परम्परा में इसका विकास हुआ है। किंतु षड्-दर्शन में इसकी गणना पंतजलि द्वारा प्रतिपादित योग-पद्धति के रूप में हुई है। जिस प्रकार न्याय दर्शन ने तर्क विद्या होने पर भी विश्व-व्यवस्था के रूप में वैशेषिक दर्शन को अपना आधार बनाया, उसी प्रकार योग दर्शन ने सांख्य द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था को अपना आधार माना। इसीलिए न्याय-वैशेषिक के समान सांख्य-योग का भी जोड़ा माना जाता है। योग और सांख्य का लक्ष्य लगभग एक ही था। पंतजलि का उद्देश्य कपिल की अवधारणाओं को व्यावहारिक रूप देना प्रतीत होता है। सत्य को खोज लेना ही पर्याप्त नहीं था, उसे प्राप्त भी करना चाहिए। अतः व्यावहारिक अभ्यास भी उतना आवश्यक है, जितना सैद्धांतिक अध्ययन। इसी कार्य को पूरा करना योग का लक्ष्य था। भेद इतना ही है कि सांख्य दर्शन ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता, किंतु योग दर्शन उसके अस्तित्व को स्वीकार करता है। इसीलिए इसे ‘सेश्वर-सांख्य’ भी कहा गया है। *भगवद्गीता* में सांख्य और योग को एक ही बताया गया है और उन्हें परस्पर भिन्न समझने वालों की निंदा की गयी है। वहाँ सांख्य का अर्थ ज्ञान और योग का अर्थ साधना है, और दोनों को एक दूसरे का पूरक माना गया है। इस दर्शन का आदिग्रंथ पंतजलिकृत *योगसूत्र* है और इस पर व्यास लिखित *योगभाष्य* अत्यंत प्रामाणिक टीका मानी जाती है।

योग दर्शन ने अपनी तत्त्वमीमांसा के लिए सांख्य दर्शन को ही अपना आधार माना है। साथ ही, ईश्वर का अस्तित्व भी स्वीकार किया है, किंतु उसका प्रतिपादन ध्यान के लक्ष्य के रूप में किया है, जगत-कर्ता के रूप में नहीं। साधक उस लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहता है, अतः उस पर मन को एकाग्र करना योग-सिद्धि का अंग माना गया है। ज्ञान का स्वरूप और प्रमाण-व्यवस्था के लिए भी योग दर्शन ने प्रायः सांख्य

को ही अपनाया है। यहाँ भी मोक्ष जीवन का लक्ष्य है। उपाय के रूप में यहाँ विवेक-ख्याति अर्थात्-प्रकृति और पुरुष के परस्पर-भेद-ज्ञान का प्रतिपादन है। उस अवस्था को पाने के लिए मन को एकाग्र करने की आवश्यकता है। योग दर्शन के प्रथम समाधि-पाद में समाधि अर्थात् योग का स्वरूप और उसकी विविध अवस्थाओं का वर्णन है। दूसरे साधन-पाद में योग के अंतिम लक्ष्य विवेक-ख्याति और कैवल्य का स्वरूप बताया गया है।

योग दर्शन का काल-निर्धारण काफ़ी कठिन है। सिंधु घाटी सभ्यता के अवशेषों में कई प्रस्तर-मूर्तियाँ और मुहरें मिली हैं, जिन पर योग मुद्रा वाली पुरु आकृतियाँ चिह्नित हैं। इससे आर्यों के भारत आगमन से पहले से ही योग के प्रचलन का पता चलता है। श्वेताश्वतर और कठोपनिषद आदि उपनिषदों में योग दर्शन की चर्चा मिलती है। बौद्ध और जैन स्रोतों के आधार पर ईसा पूर्व छठी शताब्दी में भी योग का महत्त्व था। ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व बुद्ध और महावीर दोनों ने ही वर्षों तक योग साधना की थी। पंतजलि का जीवन-काल कुछ विद्वान ईसा पूर्व चौथी शताब्दी मानते हैं, तो कुछ ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी और कुछ उससे पहले। योग को एक दार्शनिक प्रणाली के रूप में व्यवस्थित करने का श्रेय पंतजलि को जाता है किंतु वे योग दर्शन के प्रस्थापक नहीं बल्कि सम्पादक थे। योग दर्शन के दो बड़े भाष्यकार वाचस्पति मिश्र और विज्ञान भिक्षु का भी यही खयाल है। इस प्रकार योग संबंधी मौलिक विश्वास और क्रियाएँ पंतजलि के योग सूत्र में मौजूद दार्शनिक विचारों से कहीं अधिक पुरानी रही होंगी।

समग्र रूप से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि योग दर्शन में विकासवादी पारमाणविक सिद्धांतों को सांख्य प्रणाली के पच्चीस तत्त्वों और प्रत्यक्ष, अनुमिति और साक्ष्य इन तीन प्रमाणों को अपनाया। किंतु ईश्वर के सवाल पर दोनों में भेद है। सांख्य ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करता है और योग ईश्वर को स्वीकारता है। चित्त की वृत्तियों का शमन करके या चित्त को बाह्य विषयों से हटाकर ईश्वर में लगाना ही योग है। व्यक्ति का चित्त प्रायः एक जगह स्थिर नहीं रहता, चंचल बना रहता है। उसकी इस चंचलता का समूल नाश ही योग का काम है। साधक समाधि अवस्था में पहुँचकर इसे हासिल करता है। सांख्य सम्मत बुद्धि, अहंकार और मन इन तीनों को मिला कर योग के अंतर्गत चित्त नाम दिया गया है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध पाँच तरह की चित्त की अवस्थाएँ होती हैं। विक्षिप्तावस्था में रजो गुण की प्रधानता होती है और चित्त एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ता रहता है। मूढ़ावस्था में चित्त में तम की प्रधानता रहती है। क्षिप्तावस्था चित्त की आंशिक स्थिरता की अवस्था है। एकाग्रावस्था में चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता

है। यह किसी वस्तु पर मानसिक केंद्रीकरण की अवस्था है। इसके पश्चात अंतिम अवस्था निरुद्धावस्था में पहुँचने पर साधककी चित्त की वृत्तियों का लोप हो जाता है और चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिर शांत अवस्था में आ जाता है। एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाओं में सत्त्वगुण का आधिक्य होता है। एकाग्र अवस्था को 'सम्प्रज्ञात-समाधि तथा निरुद्धावस्था को 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहा जाता है। और सामान्यतः दोनों को संयुक्त रूप से समाधि-योग कहा जाता है।'

सम्प्रज्ञात समाधि की ध्येय विषयों के आधार पर संप्रज्ञात समाधि की चार कोटियाँ मानी गयी हैं : सवितर्क, सविचार, सानंद और चौथी कोटि सास्मित समाधि की है। इस कोटि में पहुँचकर साधक आत्म-साक्षात्कार की स्थिति प्राप्त करता है। और असम्प्रज्ञात समाधि की दो कोटियाँ— भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय होती हैं। चित्तवृत्तियों के निरोध होने पर भी चित्त अविद्या में लीन हो जाए तो यह अवस्था भवप्रत्यय कहलाती है। उपायप्रत्यय वास्तविक असम्प्रज्ञात समाधि है। उपाय से तात्पर्य शुद्ध ज्ञान या प्रज्ञा है। प्रज्ञा के उदय से वृत्तियों एवं संस्कारों का सर्वथा नाश हो जाता है और साधक नित्य विशुद्ध चैतन्य में प्रतिष्ठित हो जाता है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधि प्रज्ञा के साधक हैं। प्रज्ञा के लिए आवश्यक है कि अंतःकरण सर्वथा निर्विकार, शुद्ध और शांत हो। चित्त की शुद्धि के लिए योग ने आठ प्रकार साधन बताये हैं, इन्हें अष्टांग योग के नाम से भी जाना जाता है :

यम : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये आचार-शुद्धि के मूल आचार हैं। पंतजलि ने इन्हें सार्वभौम कहा है, अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति में इनका पालन आवश्यक है। ये देश, काल, परिस्थिति और व्यक्ति की मर्यादा से परे हैं। पंतजलि का यह भी कथन है, कि जो अहिंसा को जीवन में उतार लेता है, उसके समीप अन्य प्राणी भी परस्पर वैर-भाव भूल जाते हैं। जो सत्य को जीवन में उतार लेता है, उसे वचन-सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उसके मुँह से निकली कोई बात निष्फल नहीं होती। अस्तेय को जीवन में उतार लेने पर संसार की सारी सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। ब्रह्मचर्य को उतारने पर शक्ति प्राप्त होती है। अपरिग्रह से पूर्व जन्म स्मृति होने लगती हैं।

नियम : शौच- मन, वाणी और शरीर की शुद्धि; संतोष- लोभ न करना। अनायास प्राप्ति से तृप्त रहना; तप- अनशन आदि; स्वाध्याय-शास्त्र-चिंतन या आत्म-रमण; ईश्वर-प्रणिधाम। अंतिम तीन को क्रियायोग भी कहते हैं।

आसन : योग दर्शन के अनुसार लक्षण— स्थिर सुखनासमम्, पद्मासन, सिद्धासन आदि।

प्राणायाम : योगसूत्र के अनुसार लक्षण— रोचक, पूरक, कुम्भक आदि। इससे आवरण का क्षय होता है और मन धारणा के योग्य बनता है।

प्रत्याहार : इंद्रियों का बाहरी विषयों से हटकर अंतर्मुखी बनना, इस अभ्यास से इंद्रियाँ वश में हो जाती हैं।

धारणा : चित्त को किसी एक विषय पर स्थिर करना।

ध्यान : मन को उसी विषय पर लगाये रखना।

समाधि : अपने-आपको भूल कर विषय में लीन हो जाना।

धारणा, ध्यान और समाधि का एक ही विषय पर अभ्यास संयम कहा जाता है। इसके सिद्ध होने पर 'प्रज्ञालोक' अर्थात् बौद्धिक प्रकाश प्राप्त होता है। उसे चित्त की विविध भूमि में स्थिर किया जाता है, अर्थात् स्थूल भूमिकाओं में स्थिर करते हुए उत्तरोत्तर सूक्ष्म भूमिकाओं की ओर बढ़ा जाता है। प्रथम पाँच अंगों की तुलना में अंतिम तीन अंतरंग हैं, और निर्बीज समाधि की तुलना में ये भी बहिरंग हैं। योगाभ्यास के दौरान साधक को अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व और यत्रकाभावसायित्व ये आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। किंतु साधकों को इन सिद्धियों की आकांक्षा करने के बजाय आत्म-साक्षात्कार उपलब्ध करने का प्रयास करना चाहिए। योग का यही अंतिम लक्ष्य है।

पंतजलि की ईश्वर की अवधारणा विश्व के सृष्टिकर्ता ईश्वर के समान नहीं थी। रिचर्ड गार्वे के अनुसार योग दार्शनिकों का अपनी प्रणाली में ईश्वर को शामिल करने का लक्ष्य केवल आदर्शवादी विचार के सिद्धांतकारों को तुष्ट करना और सांख्य सिद्धांतों का प्रचार सुगम बनाना था। यदि ईश्वर का उल्लेख उसमें से निकाल दिया जाए तो भी इस प्रणाली की क्रमबद्धता में कोई अंतर नहीं आयेगा। डॉ. राधाकृष्णन का मानना है कि योग दर्शन में जिस शरीरधारी ईश्वर का जिक्र है, उसका संबंध इस दर्शन के शेष भाग के साथ बेहद शिथिल है। इस दर्शन का संदेश है कि मानवीय महत्त्वाकांक्षा का लक्ष्य ईश्वर के साथ सम्मिलन नहीं, बल्कि पुरुष का प्रकृति से सर्वथा पृथक्त्व है।

योग दर्शन के मुताबिक ईश्वरभक्ति परम मोक्ष तक पहुँचने के अन्य अनेक उपायों में से एक है। ईश्वर केवल एक विशेष आत्मा (पुरुष विशेष) है, विश्व का स्रष्टा अथवा संरक्षक नहीं है। वह मनुष्यों को उनके कर्मों के लिए पुरस्कार या दण्ड नहीं देता। लेकिन जब वह एक बार प्रकट हो गया तो उसके लिए कोई न कोई कार्य निकालना ही चाहिए। कहा जाता है कि अपने भक्तों की उन्नति में जो बाधाएँ आती हैं, उन्हें दूर करने में वह सहायता करता है। भक्त प्राणिधान अर्थात् निःस्वार्थ भक्ति से ईश्वर की दया के पात्र बनने के योग्य हो जाते हैं। ईश्वर मोक्षप्राप्ति में सहूलियत तो देता है, किंतु सीधा मोक्ष का दाता नहीं। निःसंदेह इस प्रकार का ईश्वर-विषयक विचार बताता है कि योग दर्शन ने ईश्वर के विचार को लोकाचार के विचार से और जनसाधारण के मन को आकृष्ट करने के लिए ही अपनाया है।

योग के अनुसार आत्मा की वास्तविकता को मन के वस्तुनिष्ठ उपयोग द्वारा नहीं, वरन उसकी क्रियाओं का दमन करके तथा मन की उस निचली सतह पर पहुँचकर जो हमारे दैनिक जीवन और क्रिया-कलापों के द्वारा हमारे दैवी स्वरूप को छिपाये रहती है, प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार साधक परमानंद की अवस्था में पहुँच कर भौतिक जगत का लोप करके पूर्णता को प्राप्त करता है। यह माना जाता था कि उचित व्यायाम तथा चित्त और शरीर के नियंत्रण द्वारा चेतना के उस उच्चतर स्तर प्राप्त किया जा सकता है। इस अर्थ में योग भौतिकवादी नहीं वरन आदर्शवादी है।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरीनाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, रामानुजाचार्य, रामअवतार शर्मा, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

### संदर्भ

1. वियोगी हरि (सम्पा.) (2011), *हमारी परम्परा*, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. के. दामोदरन (2001), *भारतीय चिंतन परम्परा*, अनुवाद : जी. श्रीधरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
3. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (2012), *भारतीय दर्शन*, भाग 2, अनुवाद : नंद किशोर गोभिल, राजपाल एंड संस, दिल्ली.
4. चंद्रधर शर्मा (1991), *भारतीय दर्शन : आलोचना और अनुशीलन*, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली.

— अजय कुमार पाण्डेय

## योगेश अटल

(Yogesh Atal)

समाजशास्त्री योगेश अटल (1937-) ने भारतीय ग्रामों में आ रहे बदलावों तथा जाति-संबंधित अध्ययन में उल्लेखनीय योगदान किया है। 1968 में प्रकाशित उनकी रचना *द चेंजिंग फ्रंटिअर्स ऑफ़ कास्ट* में जाति व्यवस्था में हो रहे क्षेत्रीय बदलावों को रेखांकित किया गया है। भारत में चुनाव-अध्ययन हेतु पेनल तकनीक का प्रयोग भी सबसे पहले अटल

ने 1967 के चुनावों के दौरान किया। इस अध्ययन के लिए आपस में जुड़े हुए तीन समुदायों का चयन करते हुए उत्तरदाताओं के पैनलों का चयन किया गया और उनसे साक्षात्कार की प्रक्रिया तीन बार चलायी गयी। दो बार चुनावों के पूर्व एवं एक बार चुनावों के बाद। 1967 के चुनावों पर लिखित अटल का प्रबंध *लोकल कम्युनिटीज एंड नैशनल पॉलिटिक्स* 1971 में प्रकाशित हुआ जिसे एक अहम योगदान के रूप में स्वीकृति मिली। इस अध्ययन में अटल ने गाँवों एवं बृहद समाज के मध्य की राजनीतिक कड़ी तथा ग्रामीण समुदाय के अलगाव के टूटने की स्थिति में इसकी भूमिका खोजने का प्रयास किया। इससे उन्हें राष्ट्रीय एकीकरण का अध्ययन करने हेतु दिशा मिली और उन्होंने 'इंसुलेटर्स' (भित्तिया) तथा 'अपर्चर्स' (वातायन) की अवधारणाएँ प्रतिपादित करते हुए तर्क प्रस्तुत किया कि राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

अटल मानते हैं कि परिवर्तनों के माहौल में पहचान बनाये रखने की क्षमता संस्कृति को उत्थान-शक्ति ही प्रदान नहीं करती वरन उन्हें लचीला भी बनाती है। जो संस्कृतियाँ परिवर्तन का स्वागत नहीं करतीं, वे टूट जाती हैं। उनकी प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। प्रगति और परिवर्तन के स्रोत आभ्यांतरित भी होते हैं और बाह्य भी। समाज के सदस्य भी परिवर्तन में योग देते हैं और बाहरी समाजों से भी परिवर्तन की प्रेरणा मिलती है। समाजों के आपसी सम्पर्क बढ़ने से उनमें बहुलता आने लगती है। बाहर से आकर बसे लोग धीरे-धीरे अपने नये परिवेश के अनुकूल ढल जाते हैं और अपनाये हुए देश की संस्कृति के कई तत्वों को ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार इन लोगों की जीवन-विधि का जो स्वरूप निखरता है उसमें अपने पूर्वज समाज और पोषक समाज की संस्कृतियों का अद्भुत मिश्रण होता है। ऐसी उपसंस्कृतियों को अटल ने संधिवीचि संस्कृति (सैंडविच कल्चर) की संज्ञा दी है। अटल के अनुसार ऐसी संस्कृतियों के प्रादुर्भाव से सम्पूर्ण विश्व सांस्कृतिक बहुलता वाले देशों का समुदाय होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में केवल भाषा या धर्म या प्रजाति के आधार पर राष्ट्रों को परिभाषित नहीं किया जा सकता।

योगेश अटल का जन्म 9 अक्टूबर, 1937 को हुआ था। सागर, पंजाब, आगरा विश्वविद्यालयों एवं भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, दिल्ली में अध्यापन के अतिरिक्त वे 1972-74 के दौरान भारतीय समाज-विज्ञान अनुसंधान परिषद के निदेशक रहे। उन्होंने 1974 से 1997 तक यूनेस्को में समाज-विज्ञान के प्रधान निदेशक तथा 1997 से 1999 तक भारतीय शिक्षण संस्थान, पुणे के महानिदेशक की भूमिका निभायी। आजकल वे मध्य प्रदेश सामाजिक विज्ञान शोध



संस्थान, उज्जैन में प्रोफेसर एमेरिटस हैं। अंग्रेजी ही नहीं, हिंदी में भी समान क्षमता से समाज-विज्ञान रचने वाले योगेश अटल का समाज-विज्ञानों के संस्थागत उन्नयन में भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। राष्ट्रीय स्तर पर एक शोध प्रशासक के रूप में उन्होंने युवा शोधार्थियों एवं विश्वविद्यालय / महाविद्यालयीय शिक्षकों हेतु लघु अवधि के शोध-प्रविधि पाठ्यक्रम प्रारम्भ किये जो एक लम्बे कालांतर के बाद आज भी प्रासंगिक होकर युवा शोध छात्रों एवं शिक्षकों के मध्य लोकप्रिय हैं। भारतीय समाज-विज्ञान अनुसंधान परिषद के निदेशक के रूप में उन्होंने मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, लोक प्रशासन तथा भूगोल के बृहद् साहित्य सर्वेक्षण के माध्यम से महत्वपूर्ण योगदान दिया। अंतर्राष्ट्रीय पटल पर योगेश अटल ने एशिया-प्रशांत क्षेत्र में यूनेस्को के क्षेत्रीय सलाहकार के रूप में समाज-विज्ञानों के उन्नयन हेतु अग्रणी भूमिका का लगभग 19 साल तक निर्वहन किया। उनके नेतृत्व में विभिन्न देशों में समाज-विज्ञानों की स्थिति का अध्ययन करने हेतु समाज-विज्ञान सर्वेक्षण का कार्य प्रारम्भ किया गया जिन्हें आगे चल कर *सोशल साइंसेज इन एशिया* शीर्षक के तहत चार खण्डों में प्रकाशित किया गया। इनमें 21 देशों के समाज-विज्ञानों के बारे में जानकारी थी।

जाति की परिभाषा करने से जुड़ी कठिनाइयों पर योगेश अटल का मानना है कि समाजशास्त्रीय विश्लेषण में जाति को एक संरचनात्मक संज्ञा माना जाना चाहिए। वे कहते हैं कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से वर्ण, गोत्र, परिवार की उपाधि या क्षेत्र अथवा पेशे से जुड़ी संज्ञाओं को 'जाति' कहना गलत और भ्रामक है। उनके अनुसार जाति को परिभाषित करने में आने वाली मुख्य बाधाएँ हैं : कई प्रकार की जातियाँ होने के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ, अन्य जातियों के बारे में जानकारी का अभाव या उनके प्रति उदासीनता के कारण उत्पन्न कठिनाइयाँ, तथा 'आदर्श' और 'यथार्थ' के बीच अंतर से उपजी भ्रांतियाँ। जाति के लचीलेपन और परिवर्तनशीलता से उत्पन्न कठिनाइयों को भी वे जाति को परिभाषित करने में बाधा के रूप में देखते हैं।

अटल के अनुसार समाज का वही समूह जाति कहा जा सकता है जो न्यूनतम स्तर पर अंतर्विवाही हो। जाति-व्यवस्था के लक्षणों को मूलभूत/धुरीय लक्षण, समुचित प्रासंगिक लक्षण तथा परिधीय लक्षण के रूप में विभाजित करते हुए तीनों लक्षणों की उपस्थिति की स्थिति को उन्होंने

जाति-व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया है। अटल ने ग़ैर-हिंदुओं में जाति और छुआछूत पर भी विस्तार से लिखा है। उनके अनुसार जाति व्यवस्था ढाँचागत दृष्टि से कई समाजों में पायी जाती है तथा जातियों का सोपानीकरण किसी भी समाजशास्त्री के लिए सहज नहीं है। राजस्थान और मध्य प्रदेश के गाँवों के अध्ययन हेतु अटल ने मेरियट द्वारा सुझाई विधियों का प्रयोग कर जातियों को सोपानीकृत करने का प्रयास किया, परंतु यह स्तरीकरण धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित था। उन्होंने माना कि जाति का अध्ययन एक क्षेत्र के स्तर पर अधिक उपयोगी है ताकि जाति-एककों के बीच की पारस्परिक अंतःक्रियाओं को भी समझा जा सके। समस्त नीची जातियों को 'अस्पृश्य' या 'दलित' कहने को भी अटल उचित नहीं मानते क्योंकि अस्पृश्यता के भी कई प्रकार देखे जाते हैं। दरअसल, वे अस्पृश्यता को वे एक सापेक्षिक संज्ञा के रूप में देखते हैं।



योगेश अटल (1937-)

प्रभुत्वशाली जाति एवं वोट बैंक की अवधारणाओं पर विस्तार से लिखते हुए योगेश अटल ने साफ़ किया है कि एम.एन. श्रीनिवास के इन सूत्रीकरणों के दायरे में गाँवों की वस्तुस्थिति नहीं समा सकती। उनकी मान्यता है कि श्रीनिवास के इन सूत्रीकरणों के प्रभाव में भारतीय राजनीति को जातियों की राजनीति और वोट बैंक की राजनीति मानने की ग़लती दोहरायी जा रही है। वे अभीष्ट के लिए अपनायी गयी रणनीति और उसके प्रतिफल में अंतर करने को आवश्यक मानते हैं। ग़लत आधार पर जाति द्वारा चुनाव परिणामों का विश्लेषण करके तथा जाति को वोट बैंक की संज्ञा देकर चुनाव परिणामों की उचित व्याख्या नहीं की जा सकती। इस क्रम में अटल मानते हैं कि राजनीतिक क्षेत्र में परिधीय लक्षणों के आधार पर जाति की पहचान होने लगी है और उसके समुचित-प्रासंगिक लक्षण और मूल लक्षणों की बलि दी जा रही है। अटल की मान्यता है कि जाति के नाम पर बनने वाले प्रादेशिक या अखिल भारतीय संगठन वस्तुतः वर्ण के स्तर पर हैं। उनके अनुसार जाति के भीतर स्तरण न केवल धार्मिक दायरे में वरन धन और शक्ति के आधार पर भी होता है। इस दृष्टि से जाति भी वर्गीकृत हो रही है और एक ही वर्ग के लोग अंतर्जातीय स्तर पर नयी अंतःक्रियाओं में जुड़ने लगे हैं। उनका मानना है कि आज की जाति की समझ के लिए शास्त्रीय मीमांसाएँ उपयोगी नहीं हैं तथा समाजशास्त्रीय विवेचन हेतु वस्तुस्थिति के निरपेक्ष अध्ययन की आवश्यकता है।

अटल ने भ्रष्टाचार और उसके समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य पर भी विचार किया है। उनका मानना है कि समाज-विज्ञान

में ऐसे साहित्य का अभाव है जो भ्रष्टाचार के उदय और प्रसार की प्रक्रिया का वस्तुपरक अध्ययन करता हो। वस्तुतः भ्रष्टाचार और उसे पोषित करने वाली जटिल प्रक्रिया आम तौर से समाजशास्त्रीय चिंतन के केंद्र में नहीं रही है। इसलिए समाज-विज्ञान को उसके अध्ययन के लिए नयी तकनीक का विकास करना होगा। सर्वेक्षण की पद्धति को इस हेतु उपयुक्त न मानते हुए उन्होंने भ्रष्टाचार पर अनुसंधान करने के सर्वांग परिप्रेक्ष्य के अभाव को रेखांकित किया है।

अटल ने हिंदी के माध्यम से भी समाज-विज्ञानों के उन्नयन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। जिस जमाने में कोई समाज-वैज्ञानिक हिंदी में लेखन नहीं करता था, अटल ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अपने लेखन एवं अनुवाद द्वारा एक नयी परम्परा का सूत्रपात किया।

**देखें :** इरावती कर्वे, गोविंद सदाशिव घुर्गे, जातियों का राजनीतीकरण, जाति और जाति-व्यवस्था-1 से 4 तक, प्रभुत्वशाली जाति, भ्रष्टाचार

का समाजशास्त्र-1 और 2, भारतीय समाजशास्त्र-1 और 2, मैसूर नरसिम्हचार श्रीनिवास, देवकी जैन, धीरूभाई शेठ, धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी, नीरा देसाई, राधाकमल मुखर्जी, वेरियर एलविन, संस्कृतीकरण, श्यामा चरण दुबे-1 और 2, त्रिलोकी नाथ मदन।

### संदर्भ

1. योगेश अटल (1979), *द चेंजिंग फ्रंटियर्स ऑफ़ कास्ट*, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
2. सुरेंद्र गुप्ता (सम्पा.) (2004), *इमर्जिंग सोशल साइंस कंसर्न्स*, कंसैप्ट पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
3. योगेश अटल, 'आउटसाइडर्स एज़ इनसाइडर्स : द फ़ेनोमिना ऑफ़ सैंडविच क्लचर', *सोसियोलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड 38, अंक 1.
4. योगेश अटल (2003), *भारतीय समाज : बदलता परिवेश*, राजेश प्रकाशन, दिल्ली.
5. योगेश अटल (2003), *इण्डियन सोसियोलॉजी : फ़ॉर्म व्हेयर टु व्हेयर*, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर.

— संदीप जोशी